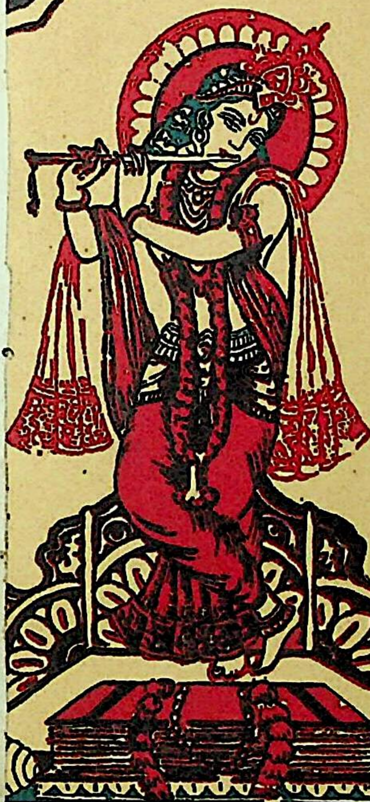


त-दर्शन

ावती कथा



लेखक

खण्ड

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी



श्री भागवत दर्शन—

भागवती कथा

(तेईसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक—

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक—

संकीर्तन भवन

प्रतिष्ठानपुर (झूसी, प्रयाग)

संशोधित मूल्य ...

द्वितीय संस्करण] चैत्र, सं० २०२३ वि० [मूल्य १.२५

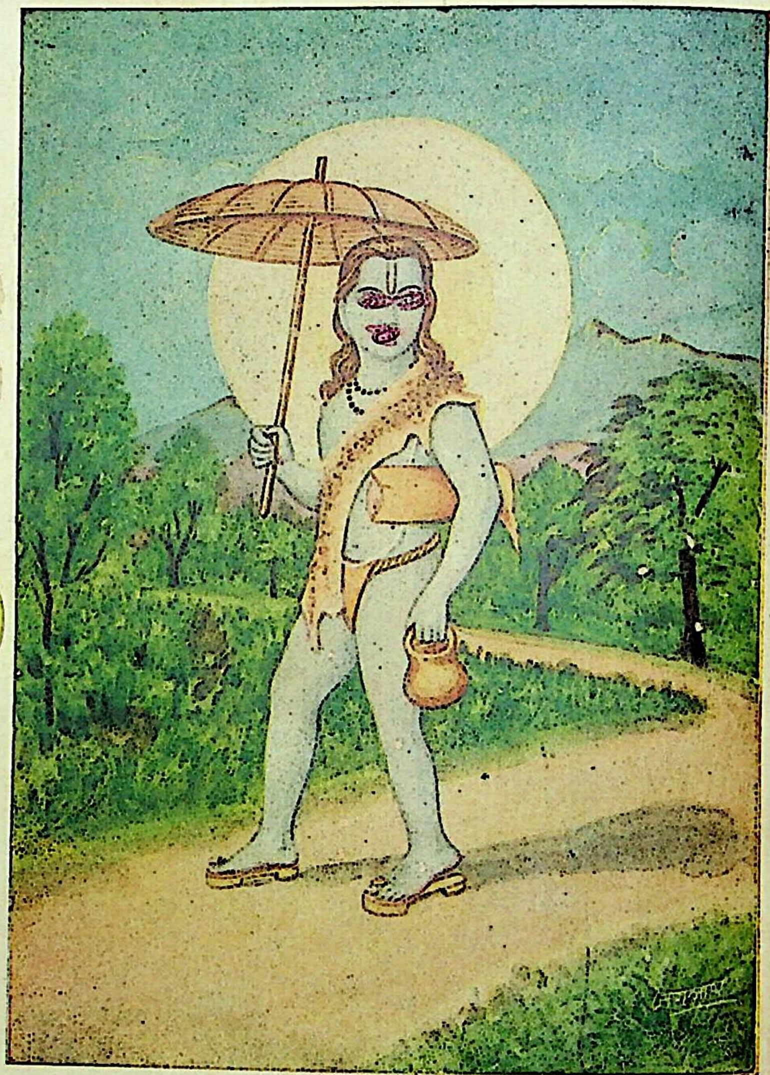
वार्षिक मूल्य डाक व्यय रजिष्ट्री सहित, १५=)

मुद्रक—राजाराम शुक्ल संकीर्तन प्रेस, वंशीवट, वृन्दावन

विषय–सूची

To. Bishnu Das Malu.

Pin -742133.



श्री वामन भगवान्

भूमिका

सन्तों के जीवन से उपदेश

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः,
सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि ।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युंजीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः ॥
(श्री भा० ९ स्क० ६ अ० ५१ श्लो०)

छप्पय

परहित धारहिं देह संत सुख देंहिं सबनि कूँ ।
स्वयं कष्ट सहि सत्य सिखावें नर नारिनि कूँ ॥
संत चरित साकार ज्ञान प्रत्यक्ष दिखावें ।
है जीवन ही वेद ग्रन्थ तिनिके बनि जावें ॥
केवल पढ़ि समुझत नहीं, पठन श्रवन इक व्यसन है ।
सन्त करहिं प्रत्यक्ष जब, होवे संशय-शमन है ॥

भक्त और भगवान् के चरित्र जिनमें गाये जांय वे कथायें ही भागवती कथायें हैं । अवतार पुरुष, संत पुरुष, तथा महा–

भगवान् सौभरि ऋषि यमुना के जल में डुबकी मारकर तपस्या करते थे । भीतर उन्होंने एक मत्स्य को मिथुन धर्म में स्थित देखा तभी उनकी गृहस्थी बनने की इच्छा हुई । उन्होंने पचास विवाह किये । अंत में

पुरुष जो कुछ कह गये हैं, जैसा जीवन बिता गये हैं, उनका ही उल्लेख इतिहास-पुराणों में होता है। भगवान् का जिनके साथ सम्बन्ध है उनकी प्रत्येक घटना से उपदेश मिलता है। प्राचीन घटनाओं के पढ़ने से हृदय पर उसका प्रभाव पड़ता है और लोग उससे उपदेश ग्रहण करते हैं। पुरानी घटनाओं की अपेक्षा नई, प्रत्यक्ष देखी घटनाओं का अत्याधिक प्रभाव हृदय पर होता है। सन्तों की समस्त चेष्टायें लोक-कल्याणार्थ ही होती हैं, उनके जीवन की प्रत्येक घटना से उपदेश मिलता है। आज प्राक्कथन में मुझे एक महापुरुष के ही सम्बन्ध में कुछ कहना है, उनके ही कुछ सुखद संस्मरणों को पाठकों के सम्मुख रखना है। ये महापुरुष हैं ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्री उड़िया बाबा जी महाराज।

उत्कल प्रदेश में जगन्नाथ पुरी के समीप एक विप्रवंश में आपका जन्म हुआ था। सुनते हैं ज्योतिषियों ने ३२ बर्ष की अवस्था में आपका मृत्युयोग बताया था, उसी अवस्था में आप ने सन्यास ले लिया। मानों आपका दूसरा जन्म हुआ आप घूमते घामते गंगातट पर बुलंदशहर जिले में राजघाट नरौरा के समीप रामघाट में आ गये और अधिक समय वहीं रहने लगे। रामघाट मेरी जन्मभूमि के समीप ही है। हमारे वहां के

फिर वैराग्य हुआ और उन्होंने कहा—'मुमुक्षु पुरुष को दाम्पत्य धर्म में स्थित संसारी लोगों का सहवास सर्वथा त्याग देना चाहिये। अपनी इन्द्रियों को बहिर्मुख न होने देना चाहिये। वह सर्वदा एकान्त में अकेला ही निवास करे, चित्त को एकमात्र अनन्त ईश्वर में ही लगा दे। यदि संग करना ही हो तो भगवत् परायण साधु पुरुषों का ही सर्वथा सहवास करे।

सब लोग गंगा स्नान करने रामघाट आते थे। इसी संबन्ध से बाल्यकाल से ही मैं उड़िया बाबा के नाम से परिचित था। उड़ीसा प्रान्त के होने से ही सब लोग आपको उड़िया बाबा कहने लगे थे।

उन दिनों आपके ज्ञान, वैराग्य, त्याग, तितिक्षा तथा सुन्दर स्वभाव की इस प्रान्त में सर्वत्र ख्याति हो रही थी। सहस्त्रों, स्त्री, पुरुष दूर दूर से आप के दर्शनों को आते रहते थे। महाराज जहां भी जाते वहीं एक मेला सा लग जाता। आप बड़े ही दयालु, मृदुभाषी, तथा सरल प्रकृति के थे। एक बार जो आपका दर्शन कर लेता वह सदा के लिये उनका बन जाता, आप जैसा अधिकारी देखते उससे वैसी ही बातें करते। युवक आप से अत्यंत प्रभावित होते थे। आप राजनीतिक विषयों में भी बड़ा अनुराग प्रदर्शित करते। जो राजनीतिक विचार के युवक आते उन्हें राजनीतिक कार्यों के लिये प्रोत्साहित करते। जो धार्मिक विचार के आते उन्हें धर्मानुष्ठान सिखाते, और जो मुमुक्षु होते उन्हें मुक्ति मार्ग सिखाते। अन्नपूर्णा की आपको सिद्धि थी। कहीं भी बैठ जायँ वहीं भांति भांति के पदार्थों के ढेर लग जाते और सैकड़ों पुरुष प्रसाद पाते। एक दृष्टि में ही वे दर्शनार्थी को अपना बना लेते। प्रथम दर्शन में ही मुझे अनुभव होने लगा मानों ये मेरे परम आत्मीय हैं। उन्होंने इस अधम पर इतना अधिक अनुराग प्रदर्शित किया कि उसे व्यक्त करने की क्षमता नहीं। सत्पिता जिस प्रकार पुत्र की प्रत्येक बात का ध्यान रखता है उसी प्रकार वे मेरी बातों का ध्यान रखते। मैं जब जब भी उनके चरणों में गया तब तब मुझे नूतन स्फूर्ति प्राप्त हुई। उन दिनों उनकी युवावस्था थी। त्याग और वैराग्य की पराकाष्ठा थी। एक काठ

के कमंडलु के अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं रखते थे। स्वयं घर घर मधुकरी भिक्षा करने जाते। रामघाट में इमली के नीचे एक फूँस की कुटी थी। उसमें सिरकी लगी थी। एक छोटा सा तख्त उसमें पड़ा था, नीचे एक चटाई विछी थी। बाहर एक लंगोटी और भीतर कमंडलु भरा जल। भगवती भागीरथी के तट पर उस महान् योगी की पर्णकुटी त्याग वैराग्य की प्रतीक थी। प्रातः काल वे किसी से मिलते नहीं थे। लगभग ५-६ घंटे बिना आसन बदले एक ही आसन से बैठे ध्यान में मग्न रहते। कोई उस समय उनके समीप जा नहीं सकता था। मध्याह्न काल में वे गांवों में भिक्षा करने जाते और तीसरे पहर सत्संगियों की शंकाओं का समाधान करते। यही उनकी चर्या थी।

उन दिनों मेरे जीवन में भी त्याग की एक क्षीण सी रेखा उदित हुई थी। उन्होंने मुझे प्रेम में नहला दिया। मुझ अधम से भी कोई इतना स्नेह कर सकता है, यह मैंने कल्पना भी नहीं की थी। यद्यपि महाराज प्रातः काल किसी से मिलते नहीं थे, मौन रहते थे, संकेत भी नहीं करते थे किन्तु मुझे कुटी में आने की आज्ञा थी। एक दिन मैं गया तो उन्होंने एक पुस्तक निकाली। पुस्तक संभवतया श्रीमद्भगवत् गीता की थी और वह उड़िया भाषा में थी। उसमें से उन्होंने मुझे बुद्ध भगवान् का एक चित्र दिखाया। जिस समय भगवान् बोध वृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्ति के संकल्प से बिना खाये पीये बैठे थे। उनका शरीर सूख गया था, अस्थि मात्र अवशिष्ट थी। चित्र बड़ा ही भावपूर्ण था, ऐसा चित्र फिर कभी देखने में आया नहीं।

उन दिनों मैं काशी में साहित्यिक जीवन व्यतीत करता था, उसे छोड़कर इसी संकल्प से हिमालय की यात्रा कर रहा था कि जब तक भगवत् प्राप्ति न होगी, तब तक हिमालय से लौटकर देश में न आऊंगा। संभवतया मेरे इस भाव की पुष्टि के ही निमित्त उन्होंने मुझे बुद्ध भगवान् का वह दिव्य चित्र दिखाया था। उनके मुख मंडल पर एक विचित्र ओज और तेज़ था। उनकी वाणी में भी बड़ा आकर्षण था। श्लोक इस लय से बोलते थे कि सुनते सुनते रोंगटे खड़े हो जाते थे। कहां किस शब्द पर कितना बल देना चाहिये इसे वे ही जानते थे। उनके मुख से यह श्लोक मैंने जब जब सुना तब तब जीवन में एक विचित्र स्फूर्ति मिली, हृदय में एक विचित्र भाव उत्पन्न हुआ। वे तन्मय होकर गाते थे।

इहासने शुष्यतु मे शरीरम्,
त्वगस्थि मांसं निलयं तुयान्तु।
अप्राप्यबोधं बहुकाल दुस्तरम्,
इहासनान्नैव समुच्चलिष्ये।*

प्रायः वे गङ्गा किनारे ही बिचरते थे। सो भी १०, २० कोस के आस पास। संभवतया कुंभ के अवसर पर एक बार हरिद्वार तक गये। ऋषीकेश से आगे वे कभी नहीं गये। कहा करते थे कि बद्रीनारायण जाकर फिर लौटा थोड़े ही जाता है। उधर गये सो गये। मेरी स्मृति में एक बार ही वे काशी तक

*इस आसन पर बैठे बैठे चाहे मेरा शरीर सूख जाय। त्वगहड्डी मांस चाहे नष्ट हो जाय, किन्तु मैं बहुकाल दुस्तर बुद्धत्व प्राप्त किये बिना मैं इस आसन से कभी उठूंगा नहीं हिलूंगा नहीं।

गये पीछे गङ्गा जी छोड़कर वे आस-पास के गांवों में भी चले जाते थे। वे कभी किसी सवारी पर नहीं चढ़ते थे, सदा पैदल ही चलते थे। पैदल चलने का उन्हें ऐसा अभ्यास था कि १०-२० कोस चलना उनके लिये सामान्य बात थी। वे सदा एक चदरा, एक कमंडलु रखते थे। इसके अतिरिक्त वे किसी वस्तु को नहीं रखते। जिसके यहां से जब चलना होता रात्रि में चुपके से उठकर चले जाते, किसी से कह कर नहीं जाते थे। साँप जैसे कैंचुली को छोड़कर उसकी ओर फिर देखता भी नहीं, उसी प्रकार वे सब कुछ छोड़कर चल देते। लोग जहाँ भी आपका आगमन सुनते वहीं सहस्रों की संख्या में दौड़ आते। वे सबसे समान भाव से मिलते, सबकी सुख दुख की बातें पूछते। जिससे भी बातें करते वही यह समझता ये मुझ से सबसे अधिक प्यार करते हैं। वे ऐसे घुल-मिल जाते कि सभी उन्हें अपना आत्मीय स्वजन समझते, अपना दुख सुख बताते और छोटी से छोटी घर गृहस्थी की बातों में भी सलाह देते। किसी की लड़की को वर नहीं मिलता उसे वर बता देते। किसी को अनुष्ठान बता देते। सारांश यह कि वे लोक परलोक दोनों प्रकार की बातों में ही अपने आश्रितों की सहायता करते।

हिमालय से लौटकर-रुग्ण होकर-मैं पुनः उनके चरणों में आया, अपनी असफलता बताई। तब आपने मुझे प्रोत्साहित करते हुए कहा—"भैया! कोई बात नहीं। असफलता में ही सफलता छिपी रहती है। तुम्हारी लिखने लिखाने की ओर प्रवृत्ति है, तुम पुस्तकें लिखो। तभी मैंने "श्री श्री चैतन्य चरितावली" लिखी। जिस दिन आरम्भ की उस दिन मैंने आदमी भेजा कि महाराज मुझे आशीर्वाद लिख भेंजे। उसी समय आपने तुरन्त एक श्लोक लिखवाकर भेजा—

जो श्री चैतन्य—चरितावली के प्रथम खण्ड के आरम्भ में छपा है। फिर आप मेरी प्रार्थना पर श्री हरि बाबाजी के बाँध पर पधारे जहाँ मैं चैतन्य चरितावली लिख रहा था, और मेरी प्रार्थना स्वीकार करके कुछ दिनों वहां विराजे भी। इसके अनन्तर अनेकों बार मैंने दर्शन किये। जब भी मुझे कोई कठिनाई होती उनके चरणों में जाता और वे उचित परामर्श देते। वे सबके मन की बातें जानते थे, जैसा जिसका रुख देखते वैसी ही उससे बात करते। वे कभी किसी में बुद्धि भेद नहीं करते थे। उनकी जैसी सहनशीलता आज तक मैंने किसी में देखी नहीं। वे सबकी बात सहते, जिसे एक बार अंगीकार कर लेते, अंत तक उसका प्रतिपालन करते। अपनाकर ठुकराने की वे मन से भी कल्पना नहीं कर सकते थे। दयालु इतने थे कि घोर से घोर विरोधियों पर भी कभी क्रोध न करते, उनके बड़े से बड़े अपराधों को क्षमा कर देते। एक भूले भाई ने उनपर प्रहार किया। आपकी नासिका में घाव भी हो गया, फिर भी आपने कुछ नहीं कहा, उसे पुलिस तक में नहीं दिया, क्षमा कर दिया। भोजन कराने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। अपने हाथों वे भक्तों को परोसते और आग्रह-पूर्वक खिलाते। वे दोनों के प्रतिपालक थे। इनका तप सौम्य था, उसमें क्रोध का अभाव था। उनका त्याग छल से रहित था, उनका स्वभाव शिशु की भांति सरल था। वे सेवा लेना उतनी नहीं जानते थे, जितनी सेवा करना जानते थे। मैं जब भी जाता मेरी सब बातों का स्वयं प्रबन्ध करते, लोगों को नियुक्त करते। मेरे ही साथ नहीं सभी के साथ उनका इसी प्रकार स्नेहमय व्यवहार था। वे हृदय को पकड़ना जानते थे और निभाना भी। पीछे से आपका संग पूज्यपाद श्री हरिबाबा जी के साथ हुआ। गङ्गाजी के बाँध

बँधने के अनन्तर ही इन दो महापुरुषों का सम्मिलन हुआ और ऐसा हुआ कि ये दोनों एक हो गये। जैसे निमाई निताई (श्री चैतन्यदेव और श्री नित्यानंन्द) दोनों घुल मिल गये हैं वैसे ही उड़िया बाबा और हरिबाबा परस्पर अन्योन्याश्रित भाव से एक बन गये। भक्तगण हरिहरात्म भाव से उनकी पूजा करते थे। श्री हरिबाबाजी से वे अवस्था में ६—१० वर्ष बड़े थे। अतः वे उनमें पूज्य बुद्धि रखते। वे भी श्री हरिबाबाजी का अत्यन्त ही संकोच करते। स्वयं श्री हरिबाबा कहते थे कि जबसे हम मिले दोनों में कुछ ऐसा संकोच का सा सम्बन्ध हो गया था कि कभी हम खुलकर मिल ही न सके। उन्होंने कभी मेरे सामने उपदेश नहीं दिया, कथा नहीं कही। मैं पहुंच जाता तो वे कुछ कह भी रहे हों तो चुप हो जाते। कभी उन्होंने मुझे आदेश, उपदेश नहीं दिया। सदा मेरा रुख देखकर बातें की।"

मैंने तो अपनी आँखों सब प्रत्यक्ष देखा है। श्रीहरिबाबाजी के और उनके स्वभाव में, रहन सहन में, व्यवहार में, पृथिवी-आकाश का सा अन्तर था। वे प्रवृत्ति के कार्यों से घबराते थे इनका सब कार्य लोकहित के ही निमित्त जन समूह में होता था। वे समय का कोई विशेष विचार नहीं रखते थे। जब तक चाहें उपदेश देते रहें, जब तक चाहें बातें करते रहें। इनका सभी काम का पल पल बँधा रहता है, घड़ी देखकर प्रत्येक कार्य करते हैं। वे भक्तों के साथ हँसते खेलते थे, उनके सुख दुख की बातें पूछते, घर गृहस्थी की सम्मति देते। इनके चाहे कोई मरो, चाहे कोई जीओ, नीची दृष्टि करके कथा में बैठे रहना, कुछ पढ़कर सुना देना, कीर्तन कर लेना और फिर

किवाड़ बन्द करके बैठ जाना। कोई आओ कोई जाओ किसी से कोई व्यवहार की बातें ही नहीं, मिलना नहीं जुलना नहीं। उनकी अद्वैत वेदान्त में पूर्ण निष्ठा थी, ये भक्ति पथ के पथिक हैं। इस प्रकार की विषमता होने पर भी दोनों एक हो गये। श्री उड़िया बाबाजी जब तक नहीं पहुंचते तब तक बाँध का उत्सव होता ही नहीं था। महाराज ने अपनी समस्त इच्छायें श्रीहरि बाबाजी की इच्छा में मिला दी थी। जितना उन्होंने निभाया उतना कोई भी नहीं निभा सकता। वे सदा श्री हरिबाबा जी की भावभंगी देखा करते। उन्हें किसी बात से कष्ट न हो यही चिन्ता उन्हें सदा बनी रहती थी। इन तक वे किसी बात की सूचना नहीं पहुँचने देते थे। कीर्तन ठीक नहीं हुआ। श्री हरिबाबा जी के चित्त में दुःख हुआ, तो वे सभी को बुलाते समझाते और हरिबाबाजी को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते। आने जाने वालों की समस्त देख रेख उन पर थी, हरिबाबा जी तो यह भी नहीं जानते थे, कि कौन आया कौन गया, कहाँ से रुपया आया, किसने दिया, क्या व्यय हुआ। इन सब की सार सम्हाल वे स्वयं करते थे। श्री हरिबाबा जी तो केवल कह भर देते थे—यह होना चाहिये, उनके समस्त कार्य दूसरों के उपकार के ही निमित्त होते थे। या अंगीकार किये हुए के प्रतिपालन के निमित्त। जिसे भी उन्होंने अपना कहकर स्वीकार कर लिया, उसकी फिर चाहे कोई भी आकर कितनी भी बुराई करो, वे उसे त्यागते नहीं थे। दोष देखते हुए भी वे उसकी ओर ध्यान नहीं देते थे। इतनी अदोष दृष्टि दूसरे स्थान में मिलनी कठिन है। पहिले इस भाँति के संकीर्तन या सत्संग महोत्सव नहीं होते थे। बाँध के उत्सवों के पश्चात् ही सर्वत्र इनका प्रचार हुआ। मेरे ऊपर तो आपकी अत्यन्त

ही अनुकम्पा थी। जैसे पिता पुत्र की बातों को मान लेता है उसी प्रकार वे मेरी सभी बातों को मान लेते। अलीगढ़ में सर्व-प्रथम वृहत् संकीर्तन उत्सव हुआ। बा० रामस्वरूप जी केला का उस उत्सव को सफल करने में बड़ा हाथ रहा। उनकी इच्छा थी कि आजकल जितने प्रसिद्ध, प्रसिद्ध महात्मा हैं—सभी इस उत्सव में बुलाये जायँ और प्रायः सभी पधारे भी थे। वृन्दा वन के प्रसिद्ध गोस्वामी वालकृष्ण जी गोस्वामी, श्री उड़िया बाबा जी, श्री स्वामी एकरसानन्द जी, श्री स्वामी कृष्णानन्दजी, (मंडली वाले), दीन जी तथा और भी उस समय के जितने संत थे आज इनमें से एक भी अब साकार रूप से पृथ्वी पर नहीं हैं श्री हरिबाबा जी भी पधारे थे। वहाँ की सेवा का कार्य मुझपर भी था। मैं स्वामी एकरसानन्द जी को लेकर महाराज श्री उड़िया बाबा जी के पास गया। स्वामी एकरसानन्द जी वृद्ध थे। उनके साथ उनके बहुत से प्रसिद्ध शिष्य भी थे। महाराज का स्वभाव था वे किसी को देखकर न उठते थे न किसी को प्रणाम करते थे। वे चौकी पर बैठे थे, बैठे रहे। स्वामी एकरसानन्द जी महाराज भी जाकर बैठ गये। दोनों महापुरुषों में बड़ी देर तक बातें होती रहीं। कोई बात नहीं। मैंने अनुभव किया कि कुछ लोगों को यह बात अच्छी नहीं लगी कि महाराज ने स्वामी जी को अभ्युत्थान नहीं दिया। वह एक अपूर्व सम्मेलन था। मेरी इच्छा थी कि यहाँ किसी भी बात पर कटुता न होने पावे। मैं महाराज के समीप गया और कहा—"महाराज जी, आपको स्वामी एकरसानन्द जी के पास चलना चाहिये।" आप तुरन्त उठ पड़े और बोले—चलो। हम गये, महाराज तख्त के नीचे जाकर बैठ गये स्वामी जी ने ऊपर बैठने को बहुत कहा, 'किन्तु ऊपर नहीं बैठे। इसका सभी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सारांश

यह कि उनके मन में कभी किसी प्रकार का मान अपमान का ध्यान नहीं था। अपने आनन्द में सदा मग्न रहते। हम जहाँ के लिये भी प्रार्थना करते, तुरन्त 'हाँ' कर लेते।

कुछ लोगों के आग्रह से फर्रुखाबाद में एक महीने के महोत्सव का आयोजन किया। मैं वहां की भीतरी बातों से तो परिचित नहीं था। श्री हरिबाबा उड़िया बाबा दोनों से प्रार्थना की, दोनों ने स्वीकार करली। महाराज को पैदल जाना था। पैदल चलकर पहुंचे। वहाँ आपस में ही विरोध हो गया। जैसा चाहिये उत्सव हुआ नहीं। मुझे बड़ी लज्जा लगी। मुझे भी ज्वर आ गया। आपने कह दिया कोई बात नहीं, ऐसा तो होता ही है। साधुओं के लिये मान अपमान क्या? प्रसंग बहुत बड़ा है, यहाँ मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि आप अभी किसी के दोष की ओर ध्यान ही नहीं देते थे। मान अपमान में सुख दुख में सदा समभाव से रहते।

जब झूसी में चौदह महीने का अखण्ड कीर्तन साधनानुष्ठान हुआ तब मैंने प्रार्थना की। ढाई तीन सौ कोस पैदल आना सामान्य बात नहीं थी। आपने मेरी प्रार्थना सहर्ष स्वीकार कर ली और रामघाट से पैदल चलकर आप झूसी आ गये। जहाँ तक मुझे स्मरण है, जब से रामघाट आये तब से यही एक काशी--प्रयाग की उनकी यात्रा सबसे प्रथम और सबसे अन्तिम थी। यहाँ लगभग दो ढाई महीने आप ने निवास किया। जहाँ हमने आपके लिये फूस की कुटिया बनवाई थी, इसका चित्र अभी तक ज्यों का त्यों मेरी आँखों के आगे नृत्य कर रहा है। इस स्थान को देखकर अब भी हृदय भर आता है। आप यहाँ बड़े ही प्रसन्न रहे, अत्यंन्त ही अनुराग आपने प्रद–

शित किया । आप दर्शकों में बिना आसन के सर्वसाधारण लोगों के साथ बैठ जाते और लोग आकर गद्दी तकिया लगा कर आसनों पर बैठते । आप नीचे बैठे बैठे सब सुनते रहते । कभी आपने अपना अपमान अनुभव नहीं किया । कुछ मंडलेश्वर आये, वे गद्दी तकिया लगाये बैठे थे, आप साधारण व्यक्ति की भाँति उनके आगे भूमि पर जा बैठे । किसी ने कहा—"आसन दो" आपने कहा—"आसन की क्या आवश्यकता है, भूमि ही आसन है ।"

यहीं से आप काशी गये, विश्वनाथ जी के दर्शन करके आपने कहा—अभी आधे विश्वनाथ जी के दर्शन हुए हैं । आधे तब होंगे जब मालवीय जी के दर्शन हो जायँ । आप विश्वविद्यालय गये । मालवीय जी के कमरे में जाकर खिड़की से झाँका । वे आराम कर रहे थे । आपने कहा—आराम करने दो किसी ने मालवीय जी को सूचना दे दी, मालवीय जी भी मिलने को उत्सुक थे, सुनते ही दौड़े आये । दोनों महापुरुष परस्पर लिपट गये और प्रेम के अश्रु बहाने लगे । काशी से लौटकर फिर आप झूसी ही आ गये । अनुष्ठान समाप्त करके हम सब साथ साथ रामनवमी के अवसर पर श्री अयोध्या जी गये । उन दिनों ललनऊ में राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) का महाधिवेशन होने वाला था,हम सबके कहने पर आप लखनऊ भी पधारे। वहाँ महत्मा गान्धी जी से भी आपने भेंट की । महात्मा जी आपके त्याग वैराग्य को देखकर बहुत प्रभावित हुए और भिक्षा करने का भी आग्रह किया ।

जो भी आपको अपने घर भिक्षा को बुलाता वहीं वे उसकी प्रसन्नता के निमित्त भिक्षा करने चले जाते । कई बार तो एक

दिन में ६०-६० ७०-७० घरों में भिक्षा करने गये थे। कभी कभी मैं भी साथ जाता था। मैं तो ऊब कर लौट आता, किन्तु वे सबका मन रखते थे, दूसरे का कष्ट देख नहीं सकते थे। भूख न होने पर भी यदि कोई आग्रह करता तो वे खा लेते थे स्वयं कष्ट उठा लेते थे पर दूसरे का कष्ट नहीं देख सकते थे। इन्हीं कारणों से पीछे आपका पेट भी बिगड़ गया था।

जिन दिनों मैं श्री वृन्दावन में श्रीकृष्ण लीला-दर्शन लिख रहा था उस समय मैंने वृन्दावन पधारने की प्रार्थना की। आप वृन्दावन पधारे। वहीं कुछ एक छोटी सी कुटी बनाने का भक्तों ने प्रस्ताव रखा। मैंने इसका विरोध किया, किन्तु मेरा एक मत था, बहुमत के सामने वह अमान्य ठहराया गया। संयोग की बात कि कुटिया बन गई और फिर शनैः शनैः उसका विस्तार बहुत हो गया। रामघाट, कणवास, अनूपशहर तथा और भी कई स्थानों में महाराज के भक्तों ने उनके नाम ने आश्रम बनाये महाराज की इन सब में आसक्ति तो होनी ही क्या थी किन्तु इस प्रवृत्ति विस्तार से भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग एकत्रित हो गये। महाराज अंगीकार करना तो जानते थे, किन्तु अंगीकार करके त्यागना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। प्रवृत्ति में ऐसा होता है इसमें किसी का दोष नहीं। महापुरुषों की समस्त चेष्टायें लोक-कल्याण के ही निमित्त होती हैं। यह संसार तो असुख है, अनित्य है, सदा से यह ऐसा रहा है, सदा रहेगा। महापुरुष आते हैं, अपने प्रभाव से इसे सुखमय बनाते हैं, फिर यह ज्यों का त्यों हो जाता है। कुत्ते की पूँछ को चाहे जितने दिन कसकर सीधी बाँध दो। खोलोगे तो टेढ़ी की टेढ़ी ही रहेगी। न जाने कितनी बार भगवान् ने इस अवनि पर अवतार धारण किया, फिर भी संसार से दुःख का अत्यन्ता भाव नहीं हुआ। यह संसार

दुःखमय का दुःखमय ही बना रहा। यही नहीं इसमें आकर बड़े बड़े अवतारों को भी दुःख सहन करने पड़े। राम, कृष्ण, परशु राम, वामन, बलदेव, पृथु, सहस्रार्जुन, व्यास ये सब के सब अवतार ही थे। जिनका संसार के साथ सम्बन्ध हुआ ऐसा कौन है, जिसे संसार ने अपयश का पुरस्कार न दिया हो। जितने महापुरुष हुए हैं, सभी ने अस्त्रों के द्वारा, विष के द्वारा, या अन्य प्रहारों के द्वारा ही अपने प्राणों का परित्याग किया है। संसारी लोग उनके यथार्थरूप को भूलकर उन्हें शत्रु समझने लगते हैं और उन पर आक्रमण कर देते हैं। वे भी ऐसी ही लीला रचकर शरीर का अंत कराना चाहते हैं। मरते मरते वे मृत्यु से भी संसारी लोगों को शिक्षा दे जाते हैं। भगवान् बुद्ध, श्रीशंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों पर भी संसारी लोगों ने आक्रमण किया, विष का प्रयोग किया। आचार्य हित हरिवंश जी ये तो ईश्वर कोटि के हैं। इनका भी विपक्षियों ने सिर काट लिया। महात्मा पलटू दास को जीवित ही जला दिया। इन बातों में भी कोई न कोई रहस्य होता है। हम अल्पज्ञ प्राणी इसे समझ नहीं सकते। महात्मा गांधी जी साधारण मृत्यु से मरते तो उनका यश इस प्रकार दिग् दिगन्तों में व्याप्त न होता। गोली से मरकर उन्होंने बहुत कार्य किया। श्री उड़िया बाबा जी कहते थे, जब मैंने महात्मा जी की मृत्यु की बात सुनी तब मैं ढाह मारकर मुक्त कंठ से रुदन करने लगा।" कौन जानता था आप भी ऐसी ही मृत्यु से अपने इस पांच भौतिक शरीर का अन्त करेंगे।

इधर कुछ दिनों से आप बहुमूत्र रोग से पीड़ित थे। एक पैर की नस में भी कुछ सूजन सी आ गई थी, इससे चलने में कुछ कष्ट होता था फिर भी आप चलते फिरते थे। गत माघ के पिछले माघ में अर्धकुंभी थी। उस समय पूज्य श्री हरिबाबा जी

प्रयाग पधारे थे। यहाँ से श्री श्री आनन्दमयी माँ को वे बाँध के उत्सव पर ले गये थे। श्री उड़िया बाबा जी भी इस उत्सव में पधारने वाले थे, किन्तु अस्वस्थता के कारण वे पधार न सके। उनके बिना श्री हरिबाबा जी उत्सव करते ही नहीं। जब नियत तिथि पर नहीं पधारे तब श्री माँ को लेकर श्री हरिबाबाजी महाराज जी के पास वृन्दावन पहुंचे। श्री हरिबाबा के लिये वे सब कुछ करने को तत्पर रहते थे। उन्हीं के लिये वे घड़ी रखने लगे और यथा शक्ति समय से कथा कीर्तनादि के कार्यक्रमों में सम्मिलित होने लगे। फिर भी पैदल चलने के नियम को वे निभाते रहे। इसके लिये कभी श्री हरिबाबा जी ने भी आग्रह नहीं किया। अब के श्री हरिबाबा जी ने बल देकर कहा—"आपके लिये नियम फियम क्या? आप मोटर पर बाँध चलें। आपके बिना उत्सव न होगा। "श्री माँजी ने भी उनकी बात का समर्थन किया।" आप मोटर पर बाँध गये। यही सर्वप्रथम आपका सवारी पर चढ़ना था। बाँध के अनन्तर श्री हरिबाबा जी तो श्री माँ आनन्दमयी के साथ नैनीताल, अल्मोड़ा चले गये। महाराज वृन्दावन में आकर निवास करने लगे।

श्री हरिबाबा गरमियों के पश्चात् काशी होते हुए आषाढ़ में झूसी पधारे और यहां एक वर्ष संकीर्तन भवन में निवास करने का विचार किया। कार्तिक तक आप लगभग पाँच महीने झूसी रहे भी। आपके बिना श्री उड़िया बाबा जी का मन अत्यन्त उदास रहता था। आपने श्री हरिबाबा जी को बुलाने चार पांच बार आदमी भेजे, किन्तु महाराज यहां से नहीं गये और कहला दिया—'मेरा एक वर्ष रहने का यहां संकल्प है।'

जब कार्तिक में महाराज की विशेष अस्वस्थता का समाचार सुना तो फिर महाराज से झूसी में नहीं रहा गया। आप माताजी

को साथ लेकर मार्गशीर्ष में वृन्दावन चले गये। वहाँ जाकर निश्चय यह हुआ कि श्री हरिबाबा, श्री उड़िया बाबा, तथा श्रीमाँ आनन्दमयी सब मिल कर देहली कुरुक्षेत्र, खन्ना, होशियारपुर होते हुए कोटकाँगड़ा, ज्वालामुखी आदि मोटर से जायँ और होली आकर वृन्दावन की करें।" इस निश्चय के अनुसार तीनों ही देहली से कुरुक्षेत्र होते हुए खन्ना गये। वहां महाराज श्रीउड़िया बाबाजी को ज्वर आ गया। स्वास्थ भी अच्छा नहीं रहा। अतः आगे की यात्रा स्थगित करके सब वृन्दावन आ गये और होली का उत्सव वहीं सबने मिलकर मनाया।

मैंने श्रीहरिबाबा से प्रार्थना की थी कि आप हमें छोड़ कर चले गये। इस चैत्र के नवसम्वत्सर उत्सव में तो अवश्य पधारें। आपने उत्तर दिलाया—"भाई, हम तुम्हारे ही काम से वृन्दाबन गये हैं। श्री उड़िया बाबा जी को लेकर हम चैत्र के उत्सव में अवश्य आवेंगे और अधिक से अधिक रहेंगे।" इस बात से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और अबके हम बड़े उत्साह से उत्सव का विशेष प्रबन्ध करने लगे। पीछे समाचार मिला कि श्रीउड़िया बाबा जी का स्वास्थ अच्छा नहीं है, अतः वे तो पधार न सकेंगे अकेले श्री हरिबाबा जी ही उत्सव में पधारेंगे। हम लोग बड़ी तैयारियाँ कर रहे थे, हमारी हार्दिक इच्छा थी, कि महाराज पधारें, किन्तु जब स्वास्थ्य की बात सुनी तो हमने भी आग्रह करना उचित नहीं समझा।

चैत्र कृष्ण त्रयोदशी रविवार (सं० २००५) को सांयकाल के समय। पूज्यपाद श्री हरिबाबा जी आश्रम से चले। यद्यपि श्री उड़िया बाबा जी अस्वस्थ में झूसी आने की उनकी इच्छा थी, फिर भी उन्होंने श्रीहरि बाबाजी को अकेले ही जाने की सहर्ष अनुमति दे दी। उन्हें पहुंचाने मोटर तक आये। जब

तक मोटर चली नहीं तब तक खड़े रहे। प्रसाद भी दिया और स्नेह भरित हृदय से विदा दी।

श्रीहरिबाबा चतुर्दशी सोमवार के प्रातः यहाँ पधारे। मंगलवार को तार आया कि श्री उड़िया बाबा का शरीरान्त हो गया। पढ़ कर सभी को आश्चर्य हुआ। श्री हरिबाबा जी कहने लगे—"मैं तो सकुशल छोड़ आया था।" श्रीमाँ कहने लगीं—'कहीं गिर तो नहीं पड़े।' फिर सोचा—'शरीर का क्या पता कब इसका अन्त हो जाय, यह तो क्षणभंगुर है ही। यही सब सोच रहे थे कि दूसरे दिन बुध को "अमृत बाजार पत्रिका' में पढ़ा—"उनकी उनके किसी शिष्य ने हत्या करदी।" यह और भी आश्चर्यजनक बात थी। एक से एक आश्चर्य की बात सुनकर सभी चिंतित, उद्विग्न, और खिन्न थे। उसी समय यथार्थ घटना का पता लगाने वृन्दावन एक आदमी भेजा। गुरुवार की रात्रि में उसने सूचना दी—"घटना सत्य है, एक पागल से व्यक्ति ने गड़ासा लेकर उनके सिर में तीन बार प्रकार किया। वहां के सभी लोग अत्यन्त दुखी हैं आपकी प्रतीक्षा में हैं।" उसी समय श्रीहरि बाबा जी ने वृन्दावन जाने का निश्चय किया और वे चैत्र शु० तृतीया शुक्रवार को प्रातः यहाँ से वृन्दावन के लिये चल पड़े।

इस घटना से मेरे हृदय की क्या दशा थी वह कुछ कही नहीं जा सकती। बड़े उत्साह से इस महोत्सव की तैयारियां कर रहा था। मुझे अब भी आशा थी संभव है श्री महाराज पीछे से आ जायँ। दूर दूर से लोगों को आमन्त्रित किया था किन्तु सभी उत्साह धूलि में मिल गया आश्रम में खिन्नता का वातावरण व्याप्त हो गया। सर्वत्र इसी घटना की चर्चा थी। यद्यपि मैं

एक विशेष अनुष्ठान में हूं, कहीं जाने का नियम नहीं, प्रयाग भी नहीं जाता। कुटी से संगम तक, इतना ही इस अनुष्ठान में मेरा संसार है। श्री महाराज के परलोक प्रयाण की बात सुनते ही मेरी जाने की इच्छा हुई। किन्तु इतने लोग उत्सव में आये हुए हैं। श्री हरिबाबा जी ही स्वयं विराजे हुए हैं, तो इस समय कैसे जायँ। जब दूसरे दिन यह दुर्घटना सुनी तब तो मैंने श्रीहरिबाबाजी महाराज से प्रार्थना की कि मुझे ही आज्ञा हो तो मैं ही हो आऊँ।" उन्होंने कहा—'भैया' तुम जाकर क्या कर लोगे, जो होना था वह हो गया ये तो सांसारिक शिष्टाचार हैं। उनका शरीर तो अब होगा नहीं बड़े लोगों की आज्ञा में ननु नच न करनी चाहिये। मैं चुप हो गया। किन्तु मेरे मन में एक विचित्र उथल पुथल मच रही थी।

सभी नियमों के अपवाद होते हैं। अपवाद ऐसे ही समय के लिये हैं। अब पं० वागीश जी शास्त्री ने आकर बताया कि अन्त समय महाराज ने तुम्हारी ही चर्चा करते करते प्राणों का परित्याग किया है, तब तो मुझ से रहा नहीं गया। शनिवार को प्रातः पुराण पाठ सुनकर तथा त्रिवेणी स्नान करके शंकर जी को साथ लेकर मैं वायुयान द्वारा देहली पहुंचा और वहां से बाबू आदित्य नारायण जी के साथ उनकी मोटर पर शाम के सात बजे वृन्दावन श्री महाराज के आश्रम पर पहुंचा।

अनेकों बार मैं इस आश्रम पर आया हूं किन्तु आज उस आश्रम की ओर जाने में भय लग रहा था। मोटर ज्यों ज्यों आगे आश्रम की ओर बढ़ती जाती थी, त्यों त्यों हृदय बैठता जाता था। आश्रम में जाकर देखा—वहाँ की श्री नष्ट हो गई है सर्वत्र एक उदासीनता का वातावरण छाया हुआ है। आश्रम के कण कण से मानों बिषाद फूट फूट कर बह रहा है। उस समय

वहाँ कोई नहीं था सब वस्तुएँ अस्तव्यस्त पड़ीं थीं. मेरा हृदय भर रहा था, मुझे रोना आ गया। रासमन्दिर में पड़कर मैं रोपड़ा मेरे रुदन को सुनकर इधर उधर से भक्तगण एकत्रित हो गये। ऊपर से श्रीहरिबाबाजी भी आ गये। स्वामी अखंडानन्दजी,स्वामी कृष्णानन्दजी, बाबूरामसहायजी, पन्डित सुन्दरलाल जी तथा और भी समस्त भक्तवृन्द एकत्रित होगये। श्री हरिबाबा जी ने कहा— यहाँ आकर महाराज की जो दशा सुनी उससे तो बड़ा आश्चर्य हुआ उस समय उन्हें देह का अनुसन्धान ही नहीं था।

जो उस दुर्घटना के समय वहां उपस्थित थे उन लोगों से पता चला कि उस दिन चैत्र कृष्ण चतुर्दशी सोमवार को मध्याह्नोत्तर वे सत्संग भवन में नियमानुसार पधारे। और भी बहुत से लोग कथा सुनने आते थे। आनन्द जी "भागवती कथा" की नित्य कथा कहते थे। आते ही उन्होंने पूछा—"झूसी के उत्सव का क्या हाल चाल है।" आनन्द जी ने कहा— "महाराज! अच्छा है।" श्री हरिबाबा जी पहुंच ही गये हैं। श्री मां आनन्दमयी भी आ ही गई हैं। यहाँ से नित्यानन्द जी पहुंच गये। चतुःसम्प्रादाय के रामदास शास्त्री आदि भी जाने वाले हैं। उत्सव बड़े आनन्द से हो रहा है आप कोई चिन्ता न कर।" उनके मन में थी कि मेरे न जाने से वहाँ निराशा तो नहीं हुई। और भी एक दो-उत्सव की बात पूछी। फिर "भागवती-कथा" आरम्भ हुई। बीसवें खण्ड की कथा हो रही थी, प्रह्लाद जी का प्रसंग था। अध्याय समाप्ति में एक पृष्ठ शेष था कि उसी समय एक पागल सा व्यक्ति काला कम्बल ओढ़कर बगल में कुट्टी काटने का गड़ासा दबाकर आया। महाराज तो नेत्र बन्द किये कथा में ध्यान मग्न थे और भी बहुत से नर नारी कथा श्रवण कर रहे थे। उसने आते ही

महाराज के सिर पर गड़ासा का प्रहार किया। महाराज का हाथ ऊपर सिर पर गया कि उसने पुनः प्रहार किया उँगली कट गई, तीसरा और प्रहार किया। वे प्रहार इतनी शीघ्रता के साथ हुए कि किसी का उसे पकड़ने का साहस ही न हुआ किसी बूढ़ी माई ने उसे दौड़कर पकड़ा। तब तक औरों ने भी पकड़ लिया। कुछ लोगों ने क्रोध में भरकर आवेश में आकर उसको भी मारा और वह वहीं तत्क्षण मर गया। महाराज का शरीर स्थूल था। सिर से रक्त के फुव्वारे से छूट रहे थे। चारों ओर की भूमि रक्त रञ्जित हो गई थी। समीप ही हत्यारा मरा पड़ा था वहां का दृश्य अत्यन्त ही वीभत्स हो रहा था। सभी किम् कर्तव्य विमूढ़ बने हुए थे। जितने मुंह उतनी बातें। वस्त्र सभी रक्त रञ्जित हो गये थे। हा ! विधाता की कैसी कुटिल गति है। जिस सिर पर सहस्त्रों मन पुष्प चढ़ते थे उस पर इस निर्दयता पूर्वक प्रहार ? जिस भूमि में नित्य ही कथा, कीर्तन, रास, तथा रामलीला, आदि होती थी, जहां की भूमि इत्र गुलाब और चन्दनादि से सींची जाती थी वह रक्त रञ्जित हो गई। क्या कहा जाय कुछ कहते नहीं बनता।

मेरे जाने पर उनके कृपापात्रों ने बताया—"वे पहिले से ही कहा करते थे। मैं ऐसे वैसे थोड़े ही मरूँगा, रक्त की नदियाँ बहा कर जाऊँगा। वे कहते थे—"हम जान बूझकर इस प्रवृत्ति में फंसे हैं। तुम लोगों को शिक्षा देने के लिये कि कैसा भी सिद्ध क्यों न हो, इस प्रवृत्ति में फँसेगा, उसे दुःख उठाना पड़ेगा। जो कामिनी कांचन से संसर्ग रखेगा उसको ये ही सब सहन करने पड़ेंगे। कहने से तो तुम लोग मानोगे नहीं, तुम पर प्रभाव भी न पड़ेगा। करके हम दिखाये देते हैं।

इसीलिये हम यह सब करते हैं। जिससे तुम्हें हमारे जीवन से शिक्षा मिले।"

यथार्थ में बात यही है। महापुरुषों के जीवन की प्रत्येक घटना से बड़ी भारी शिक्षा मिलती है। वे प्राणियों के उपकार के निमित्त स्वयं अपने शरीर पर कष्टों को झेलते हैं। प्रभुईसामसीह उनके शिष्यों द्वारा ही पकड़ाये गये और शूली पर लटकाये गये। उनके पवित्र बलिदान से ही आज ईसाई धर्म का इतना प्रसार हुआ। महात्मा गांधी जी की हत्या भी तो उन्हीं के देशवासी बन्धु ने की। देवीजौन को भी तो उन्हीं लोगों ने जीवित जला दिया, जिन्हें स्वतन्त्र करने को वह प्राणों का पण लगाकर प्रयत्न करती रही। इस संसार की ऐसी ही रीति है। महापुरुषों को यही पारितोषिक संसार की ओर से प्राप्त होता है।

महापुरुषों के जीवन के दो भाग होते हैं हेय और उपादेय। लौकिक दृष्टि से उनके जीवन में कोई धर्म व्यतिक्रम दिखाई दे, तो उसे उनका साहस समझकर उसका अनुकरण न करना चाहिये। उसके परिणाम की ओर देखना चाहिये। उनके जीवन में जो आचार युक्त मर्यादानुरूप गुण हों उन्हें ग्राह्य समझकर ग्रहण करना चाहिये श्री मद्भागवत में स्पष्ट कहा है—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणांच साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजोयथा॥
नैतत् समाचरेत् जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्यात् यथा रुद्रोऽब्धिजंविषम॥*

(श्री भा० १० स्क० ३३ अ० श्लोक)

हमारे यहाँ ऋषि उन्हें ही कहते हैं, जो सर्वज्ञ हैं, उस ब्रह्म को जो प्राप्त हो चुके हैं—

उनके जीवन में भी कभी कभी कोई घटना लोक व्यवहार के विरुद्ध सी दिखाई देती हैं। वे स्पष्ट कहते हैं।

(येऽस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपासितव्यानिनोइतराणि) हमारे जो सुचरित हों उन्हीं की तुम्हें उपासना करनी चाहिये, इतरलोक विरुद्ध कार्यों का अनुकरण कभी न करना चाहिये।

महाराज का समस्त जीवन परोपकार ही में बीता, वे निराश्रितों के आश्रय थे। दीनों के बन्धु थे। मुमुक्षुओं के सर्वस्व थे। उनके यहाँ कथा कीर्तन का अखण्ड सत्र चलता रहता था। सभी श्रेणी के पुरुष उनके सान्निध्य में आश्रय पाते थे। परस्पर विरोधी विचार के व्यक्ति भी उनके समीप रहते थे। वे परम सहिष्णु, धैर्यवान् और निर्भय थे। उनका सम्पूर्ण जीवन परमार्थ के कार्यों में ही व्यतीत हुआ। इस समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्ष की थीं। फिर भी ज्ञानार्जन की उनकी इच्छा कम नहीं हुई थी। नित्य ही कुछ न कुछ नई बात याद कर लेते। उन्हें कितने श्लोक कंठ थे इसकी कोई गणना नहीं। मैं जाता तो अपनी दैनन्दिनी दे देते और कहते इसमें तुम जो

---

* समर्थ पुरुषों द्वारा धर्म का उल्लंघन और हठ पूर्वक साहसिक कार्य होते जाते हैं, किन्तु उनसे उन तेजस्वियों को दोष नहीं होता जैसे सर्व भक्षी अग्नि उन पदार्थों के गुण दोष के कारण दूषित नहीं होती। जो लोग समर्थ नहीं हैं उन्हे वैसे आचरण कभी भी न करना चाहिये। यदि कोई मूर्खता वश ऐसा आचरण करेगा तो उसी प्रकार नष्ट हो जायगा जैसे शङ्कर के विष पान का अनुकरण करने वाला नष्ट हो जाता है।

सुन्दर श्लोक समझते हो उसे लिख दो। उनके श्लोक उच्चारण करने का ढँग इतना संजीव था कि उस विषय को उच्चारण करते करते मूर्तिमान् करके खड़ा कर देते। उनके गुण महान् थे। भक्त वृन्द उनका जीवन चरित्र लिख रहे हैं। यहाँ मैं उनका जीवन लिखने नहीं बैठा हूँ। यहाँ तो मैं केवल उनका स्मरण कर रहा हूँ "भागवती कथा लिखने में मुझे उनके द्वारा बड़ी स्फूर्ति मिलती। वे नित्य "भागवती कथा" को आनन्द जी द्वारा सुनते और सभी को सुनवाते। कवि की कृति का कोई कलाकार आदर करे, तो उसके लिये इससे बड़ा पुरस्कार कोई दूसरा नहीं है। नया खण्ड निकलते ही सर्व प्रथम मैं श्री उड़िया बाबा जी, श्री हरि बाबा जी के पास भेजता। मेरे लिये यही बड़े सौभाग्य की बात थी कि ये महापुरुष उसे सुनते हैं। इससे मुझे लिखने में प्रोत्साहन मिलता। महा पुरुषों की इस प्रकाशन में अनुमति है, यह स्वीकृति ही मेरे लियें इस झंझट में पड़ने की नीरसता को कम कर देती है। मेरी इच्छा तो यही है कि यह ग्रन्थ पूरा लिख जाय। छपने को तो जब छपेगा तब छपता रहेगा। आज कल मैं दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध में अक्रूर जी के वृन्दबन जाने की कथा लिख रहा हूँ। इन घटनाओं को देखकर बड़ी शिक्षा मिलती है, फिर भी वासना हमें हटात् प्रवृत्ति के कार्यों में प्रवृत्त करती है। 'भागवती कथा' को पूर्ण करने की वासना ही मुझे इसमें लगाये हुए हैं। पाठक अनुमान भी न कर सकते होंगे कि मुझे कितने कितने झन्झटों का सामना करना पड़ता है पुस्तक का एक एक अक्षर स्वयं लिखना, उसकी छपाई का प्रबन्ध करना, प्रेस का कागद का, द्रव्य का तथा अन्य उपकरणों पर ध्यान रखना, नित्य की डाक देखना, सब की बात सुनना, प्रूफ देखना, साथ

ही अपने नित्यनैमित्तिक कर्म भी करना और आश्रम के प्रबन्ध में भी योग देना। यह सब मैं अपनी वासना पूर्ति के निमित्त—इस ग्रंथ को समाप्त करने के निमित्त—ही कर रहा हूँ। होना न होना ईश्वराधीन है। बहुत से पाठक अनेक प्रकार की शिकायत करते हैं। कुछ लोग समय पर पुस्तक न मिलने की शिकायत करते हैं। कुछ कागज की, कुछ छपाई की कुछ और भी प्रकार की। उन सब का एक ही उत्तर मैं दिये देता हूँ, जैसी परिस्थिति संकीर्तन भवन की है उसमें जैसे तैसे यह प्रकाशित हो रही है यही बड़ी बात है। इसका सुचारु रीति से प्रकाशन तभी हो सकता है, जब इसके कम से कम या तो तीन हजार ग्राहक हो जायँ, या जो प्रति मास में इस में घाटा लगता है, उसका भार कोई अपने ऊपर ले ले। तब तो इसका प्रकाशन सर्वाङ्ग हो सकता है। जब तक इन दोनों में से एक का भी प्रबन्ध नहीं होता, तब तक जैसे गाड़ी किड़िर रही है वैसे ही किड़िरती रहे यही बहुत है। जीव का काम पुरुषार्थ करना है सो उसमें तो मैं अपनी शक्ति भर उठा नहीं रखता, उसका फल ईश्वराधीन है। जैसा वे चाहें तैसा करें। 'भागवती कथा में भागवतों के ही चरित होते हैं पूज्यपाद श्री उड़िया बाबा जी परम भागवत थे, अतः इस प्राक्कथन में भागवती कथा के पाठकों सहित हम उनको चरणारविन्दों में श्रद्धाञ्जलि समर्पित करके इस वक्तव्य को समाप्त करते हैं।

संकीर्तन भवन, झूसी प्रयाग
श्रीराम नवमी का प्रातः, गुरुवार
संवत् २००६

प्रभुदत्त

Bishnu Das Mali.
Pin - 742133.

मोहिनी चरित्र की समाप्ति

(५४४)

असद्विषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्ना--
नमृतममरवर्यानाशयत्सिन्धुमथ्यम् ।
कपटयुवतिवेषो मोहयन् यः सुरारीं,-
स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि ॥*
(श्री भा० ८ स्क० १२ अ० ४७ श्लोक०)

छप्पय

चलो मोहिनी भागि उमापति दौरे पकरन ।
नदी सरोवर शैल फिरैं दोनों वन उपवन ॥
ऋषि मुनि आश्रम जाइ दरश दै करैं कृतारथ ।
हरि हर दरशन होहिं यही जग साँचो स्वारथ ॥
तेज पतित पृथिवी भयी, स्वर्ण रूप्य आलय भये ।
समुझी माया मोहिनी, निवृत तुरत हर ह्वै गये ॥

कोई ठूँठ है उसमें भ्रमवश किसी को भूत की प्रतीति हो

श्री शुकदेव जी मोहिनी चरित्र की समाप्ति करके इस अवतार को प्रणाम करते हुए कहते हैं—"जिन के चरणकमल असद् पुरुषों को अप्राप्य हैं, जो एक मात्र भक्तिभाव से ही प्राप्त होते है, शरण में आये देवताओं के लिये जिन्होंने समुद्र मन्थन से प्राप्त अमृत को पिला कर कपट युवती का वेष बनाकर सुर शत्रु असुरों को मोह लिया, उन शरणागतों की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले प्रभु को मैं, प्रणाम करता हूँ ।

गई है, तो उसकी सब चेष्टायें उसे भूत की सी ही लगती हैं। वह आकाश तक लंबा प्रतीत होने लगता है। उसके बड़े बड़े डरावने दांत दिखाई देते हैं। उसके पैर पीछे को प्रतीत होने लगते हैं। उसका अंग हिलता हुआ भयंकर दीखने लगता है। शरीर भय के कारण थर थर काँपने लगता है और हम अपनी मृत्यु को समीप ही अनुभव करने लगते हैं। प्रकाश हो जाने से, समीप जाने से अथवा किसी के बताने से जब हमारा भ्रम दूर होता है, तो वहाँ न भूत रहता है न उसके आँख, कान, दाँत और पैर ही। वह एक आधे कटे वृक्ष का भाग ही रह जाता है। उसमें पहिले भूत बैठा हो और अब भाग गया हो सो बात नहीं। वह पहिले भी ठूंठ था अब भी वैसा ही ठूंठ है। उस में भूत था ही नहीं। भ्रम वश--मोह के कारण--हमें ऐसा प्रतीत होता था, भ्रम दूर होते ही भय भग जाता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब शिव जी समझ गये कि यह स्त्री नहीं है, भगवान् ने मेरी इच्छा पूर्ति की है, मुझे मोहिनी रूप के दर्शन कराये हैं तब तो वे भगवान् मधुसूदन के अचिन्त्य माहात्म्य को समझ गये और वे उस प्रयास से निवृत्त हो गये।

भगवान् भूतनाथ को न तो कोई आश्चर्य ही हुआ और न लज्जा तथा विषाद ही हुआ। वे प्रकृतिस्थ होकर भगवान् के ध्यान में मग्न हो गये। बार बार उनके अद्भुत अलौकिक मोहिनी रूप का स्मरण करने लगे। इतने में ही हँसते हुए भगवान् उनके सम्मुख खड़े हो गये। अब वे मोहिनी नहीं थे मोहन थे। अब वे साड़ी न पहिन कर पीताम्बर ओढ़े थे, अब

कंदुक न घुमाकर सुदर्शन चक्र धारण किये हुए थे। उन की मनोहारिणी वेंणी अब घुघराली अलकावली के रूप में परिणित हो गई थी, अब वे कटाक्षवाण न छोड़कर मन्द मन्द मुस्करा रहे थे, अब उनके हाथ में चूड़ियां खन खन नहीं कर रहीं थीं, सुवर्ण के कंकण करों की कान्ति बढ़ा रहे थे हँसते हुए भगवान् बोले—"कहिये शिवजी! डन्डौत, देखी आपने मेरी मोहिनी मूरति ?"

शिवजी ने भक्तिंभाव से कहा—"हाँ प्रभो! देखी आप की मायामयी, माधुरी, मनमोहिनी मूरति। महाराज! मैं तो ठग गया। आप की स्त्री रूपिणी माया से कामनाशक होकर अत्यंत मोह प्राप्त हुआ। भगवन्! आप जिन पर कृपा करें वे ही इस माया से वच सकते हैं, जिसे आप ही फँसाना चाहैं वह कैसे बच सकता है ?"

हँसते हुए भगवान् ने कहा—"भोलेबाबा! आप धन्य हो। यथार्थ में आप महादेव हो। तभी तो मेरी इस महिला रूपी मोहिनी माया सें क्षण भर को अत्यन्त मोहित से हो जाने पर भी अन्त में सम्हल गये। नहीं तो प्रभो! यह मेरी स्त्री रूपिणी माया ऐसी अगाध अँधेरी खाई है, कि इसमें जो एक बार गिरा फिर उसका जीवन भर निकलना अत्यन्त ही दुष्वार है। भगवान्! मछली तो कांटे को खाद्य समझकर अनजान में निगल कर फँसती है, किन्तु यह प्राणी जान बूझकर माया के चक्कर में फँसता है। हँसते हँसते गाकर, ढोल बजाकर सबको सुझाकर, बरात सजाकर, इस माया को ले आता है और फिर चाहे कितनी भी असुविधायें हों, जीवन भर उसे छोड़ने की इच्छा नहीं करता। यह ऐसी प्यास है, कि मरते

समय भी नहीं बुझती। इस पिपासा का स्मरण करते हुए प्राणों का परित्याग करता है, पुनः जन्म धारण करके फिर उसको प्राप्त करता है। आप देवश्रेष्ठ हैं ईश्वर हैं, सर्वज्ञ और सर्वविद् हैं जो क्षण भर में ही अपनी निष्ठा में स्थित हो गये। यह अत्यंत ही सौभाग्य की बात है।

शिवजी ने सङ्कोच के स्वर में कहा—"प्रभो ! मैं तो विवेक हीन बन ही चुका था। आपकी मोहिनी माया की विविध भावमयी चेष्टाओं से कामातुर होकर निर्लज्ज की भाँति दौड़ा ही था। आपने अपनी अपार कृपा प्रदर्शित करके पार लगा दिया। उसका यथार्थ रहस्य समझा दिया।

यह सुनकर श्रीहरि बोले—विभो ! और किसकी सामर्थ्य है जो नाना प्रकार के हाव भाव प्रदर्शित करने वाली, हृदय, नेत्र तथा सपूर्म्ण शरीर को सरसता प्रदान करने वाली मेरी दुस्त्यज माया का एक बार उपभोग करके उसे स्वेच्छा से त्याग सके। हे देवाधिदेव ! अजितेन्द्रिय कामी पुरुषों के लिये जीवन भर कभी भी इस माया के मोह को त्यागना दुस्त्यज है, अत्यन्त ही कठिन है। एक वार जो इसके बाहु पास में कस कर बँध गया फिर उसका छूटना सहज नहीं। फिर उसे पार कर जाना साधारण साहस का काम नहीं।

शिवजी ने कहा—"भगवन् ! इतना आकर्षण तो आपमें भी नहीं। यह माया तो आपसे भी बड़ी प्रतीत होती हैं।"

हँसते हुए भगवान् बोले—"शिवजी महाराज ! सृष्टि के कारण भूत तथा काल रूप मुझ परमेश्वर के तो एक अंश में ही यह स्थित है। जो मेरी माया में ही फँस जाते हैं वे मुझ

परिपूर्ण को सहज में प्राप्त नहीं कर सकते। जब मेरे एक अंश से युक्त इस गुणमयी माया में ही इतना आकर्षण है, तो मुझ में कितना आकर्षण होगा, इसे मायाबद्ध प्राणी अनुभव नहीं कर सकते। जाइये, मैं आज आपको बरदान देता हूँ, कि यह गुणमयी माया आज से आपका पराभव न कर सकेगी। आज से आप कभी भी इसके चक्कर में न आओगे।"

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! इतना कहकर भगवान् शिवजी के साथ उस स्थान पर आये जहां भगवती पार्वती जी रुद्रगणों के साथ विराजमान थीं। भगवान् ने शिवजी का पार्वती तथा गणों के सहित सत्कार किया। इस प्रकार भगवान् से सत्कृत होकर श्री महादेव जी पार्वती और गणों के साथ श्रीहरि से अनुमति लेकर बैल पर चढ़ कर कैलाश की ओर चल दिये।

मार्ग में हँसते हुए पार्वती जी ने पूछा—"कहो, महाराज! क्या गड़-बड़ सड़बड़ कर डाली। आप तो ऐसे भागे मानो किसी ने जादू टोंना कर दिया हो। उच्चाटन मन्त्र पढ़ दिया हो।"

शिवजी ने कहा—"चलो, कैलाश पर चलकर इसका उत्तर देंगे।"

क्षण भर में नन्दीश्वर कैलाश के विशाल वट वृक्ष के नीचे आ गये। वहां उन्होंने देखा, सनकादि महर्षि तथा अन्यान्य तेजस्वी तपस्वी ब्रह्मनिष्ठ–ज्ञानी भगवान् भवानीनाथ की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

सभी ने सदाशिव भगवान् के पादपद्मों में प्रणाम किया

भगवान् के योग पीठ पर पार्वती सहित विराज जाने पर समस्त ऋषि मुनि भी बैठ गये। सत्संग का प्रसङ्ग चलाने के निमित्त पशुपति प्रभु अपनी प्रिया पार्वती जी से बोले—"प्रिये! तुमने परदेवता परम पुरुष अजन्मा श्री हरि की माया के दर्शन किये ?"

हँसते हुए पार्वती जी ने कहा—"महाराज ! माया के भी दर्शन किये और आपके भी।"

गम्भीर होकर सदाशिव बोले--देवि ! तुम हँसी मत करो। परात्पर प्रभु की माया ही ऐसी प्रबल है। देखा, मैं भगवान् की कलाओं में सर्वश्रेष्ठ और परम स्वतन्त्र समझा जाता हूं। जब मैं ही उस अपने अंश से उत्पन्न हुई माया से मोहित हो गया, तो अन्य परतन्त्र प्राणी मोहित हो जायँ, इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है। कहो तो अब मैं तुम्हारे एक पुराने प्रश्न का उत्तर दे दूँ।"

पार्वती जी ने विनय के साथ कहा—"महाराज, कौन सा पुराना प्रश्न ? मुझे तो अब स्मरण रहा नहीं। कभी पूछा होगा।

शिव जी ने कहा—"देखो जब मैं सहस्र वर्ष की समाधि से उठा था, तब तुमने मुझ से आकर पूछा था कि जिनका आप ध्यान धरते हैं वे पुराण पुरुष प्रभु कौन हैं ?" उस समय मैंने प्रश्न को टाल दिया था। आज मैं उसका उत्तर देता हूँ "वे साक्षात् पुराण पुरुष ये ही हैं, जिनमें न काल की गति है न वेद की। जो काल के भी काल हैं। वेद जिनका वर्णन कर ही नहीं सकता। नेति नेति कहकर ही चुप हो जाता है। जिनको

माया का इतना प्रभाव है, तो उनके अमित प्रभाव के विषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता।

श्री शुकदेव जी कह रहे हैं—"राजन् ! यह मैंने भगवान् की अद्भुत, समुद्र मंथन की लीला के प्रसंग में मोहिनी चरित्र को सुनाया। इस लीला में अजित, कच्छ, धन्वन्तरि और मोहिनी ये चार अवतार हुए। इन चारों में यह मोहिनी अवतार परम मोहक था। जो भगवान् की इन चारों अवतारों की लीलाओं को निरन्तर सुनेंगे, सुनावेंगे, पढ़ेंगे, पढ़ावेंगे उनके कोई भी उद्योग निष्फल न होंगे। क्योंकि भगवान वासुदेव का गुणानुवाद सम्पूर्ण सांसारिक श्रम को दूर करने वाला है। जिनके कर्णकुहर इन साँसारिक कलंकित कथाओं के श्रवण से कलुषित हो गये है, उनके लिये ये भगवान् की सरस कथायें परमौषधि स्वरूप हैं। उनके समस्त शोक संतापों के नाश के निमित्त रामबाण के समान ये कथायें अमोघ सिद्ध हुई हैं।"

सूत जी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"महार्षियो इस प्रकार मेरे गुरु देव ने इस मोहिनी लीला को समाप्त करके भगवान् के उस माया मोहित युवती रूप को—जिसने असुरों को ठग कर सुरों को अमृत पिलाया और शरणागतों के पन को निभाया। श्रद्धा सहित प्रणाम किया और चुप हो गये।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी इसके अनन्तर श्री शुक ने कौन सी कथा कही ?"

सूत जी बोले—महाराज ? मन्वन्तरों की कथा तो अभी अधूरी ही है न ? एक कल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं। छटे मन्वन्तरावतार भगवान् अजित ने समुद्र मंथन की लीला की थी।

अभी आठ मन्वन्तरों की कथा और शेष है उसे ही मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित् को सुनाया उसे ही मैं अब आप को सुनाऊँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

तब बोले भगवान् मोहिनी देखी शङ्कर।
कहैं शंभु दुसबार तुम्हारी माया प्रभुवर॥
अब न पराभव करै होहि माया तव चेरी।
है दुस्त्यज दुष्पार कहैं हरि माया मेरी॥
आये शिव कैलाश पुनि, वृत्त मुनिनि सन सव कह्यो।
परम मनोहर मोहिनी, को चरित्र पूरन भयो।



सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर ।



(५४५)

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः ।
सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

विवस्वान् सुत भये सातवें मनु सुखदाई ।
वामन बनि भगवान् ठगे बलि देह बढ़ाई ॥
संज्ञा छाया संग व्याह दिनकरने कीन्हों ।
श्राद्धदेव, यम, यमी भये संज्ञा के तीनों ॥
छाया की तपती सुता, सुत सावर्णी शनैश्चर ।
कर्यो सौतिया डाह जब, समुझे सब तब दिवाकर ॥

संसार में जितने भी विश्वकर्मा निर्मित पदार्थ हैं उन सबकी कोई न कोई संज्ञा है । संज्ञा के बिना कोई पदार्थ नहीं । संज्ञावान् पदार्थ के साथ उसकी छाया अवश्य रहती

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—'राजन् ! सातवें मनु विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव इस नाम से विख्यात हैं । जो वर्तमान मन्वन्तर के अधिपति हैं । उनकी सन्तानों का भी विवरण सुनिये ।

है अँधेरे में सब वस्तुओं के रहते हुए भी उनकी संज्ञा अज्ञात रहती है। घट, पट, वस्त्र आभूषण विविध पदार्थ रखे हैं। यदि अंधकार है तो उनका विवेक नहीं होता। प्रकाश के बिना छाया भी व्यक्त नहीं होती। अतः संज्ञा और छाया के स्वामी विवस्वान् सूर्यदेव हैं। उनसे ही श्राद्धदेव आदि धर्म प्रवर्तकों की उत्पत्ति होती है।

समुद्र मन्थन की कथा को समाप्त करके पूर्व कथानक को चालू रखते हुए श्रीशुक महाराज परीक्षित् से कहने लगे—"राजन्! हाँ, तो मैं आपको १४ मन्वन्तरों की कथा सुना रहा था। सत्य, त्रेता, द्वापर, और कलि इन चारों की एक चौकड़ी होती है। ऐसी चौकड़ियाँ जब सहस्रवार बीत जाती हैं तो ब्रह्माजी का एक दिन होता है, जिसे कल्प भी कहते हैं एक कल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान् का एक विशिष्ट अवतार होता है। अब तक मैंने आपसे ६ कल्पों का और उनमें होने वाले अवतारों का वर्णन किया। प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर हुआ जिसमें यज्ञ भगवान् का मन्वन्तरावतार हुआ। द्वितीय मन्वन्तर में स्वारचिष् था जिसमें विभुभगवान् हुए, तृतीय उत्तम मन्वन्तर में सत्यसेन नाम से भगवान का अवतार हुआ। चतुर्थ तामस मन्वन्तर में गज को ग्राह से छुड़ाने वाले हरि भगवान् हुए। पाँचवाँ रैवत मन्वन्तर हुआ जिसमें वैकुण्ठ भगवान हुए। छटा चाक्षुस् मन्वन्तर हुआ उसी के मन्वन्तरावतार अजित भगवान ने यह समुद्र मन्थन की विचित्र लीला की थी। इस समय जो वर्तमान मन्वन्तर चल रहा है इसका नाम वैवस्वत मन्वन्तर है। अभी तक इसमें २८ चौकड़ी ही बीती हैं इस अष्ठाईसवें कलियुग के आदि में ही पूर्णावतार भगवान् नन्दनन्दन का अवतार हुआ है।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"इस मन्वन्तर का नाम क्या है, इसके अधिपति मनु कौन हैं। इसमें भगवान् का मन्वन्तरावतार कौन हुआ। इन्द्र, मनुपुत्र, सप्तर्षि तथा देव गण कौन हुए। इसे आप विस्तार के साथ मुझे सुनावें।

यह सुनकर श्री शुकदेव जी बोले—"राजन् ? इस वर्तमान सप्तम मन्वन्तर के अधिपति विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव हैं। इनके ईक्ष्वाकु, नभग, घृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करूष, पृषध्र और वसुमान् ये १० मनुपुत्र हैं, जिनके वंशज अब तक पृथवी पर शासन कर रहे हैं। तुम इन्हीं के वंशज हो अदित, वसु, रुद्र विश्वेदेवा मरुद्गण, अश्विनी कुमार विभुगण ये देवताओं के गण हैं। इस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम पुरन्दर है तथा कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम जमदग्नि और भरद्वाज ये इस मन्वन्तर के सप्तर्षि हैं इस मन्वन्तर में भगवान् का कश्यप जी के द्वारा अदिति में वामन नाम से मन्वन्तरावतार हुआ। इन्द्र के छोटे भाई होने से ये उपेन्द्र भी कहलाये। इस प्रकार ये सात मन्वन्तर तो हो गये अव मैं होने वाले ७ मन्वन्तरों का वर्णन और करूँगा, जिन्हें दिव्य दृष्टि से देखकर मेरे पूज्य पिता सर्वसमर्थ भगवान् व्यास ने अभी से लिख दिया है। आगामी अष्टम मन्वन्तर के अधिपति भी विवस्वान् के ही पुत्र सावर्णि होंगे। ये श्राद्धदेव मनु के भाई हैं। इनके पिता तो एक हैं। माता दोनों की पृथक् थी।

इस पर श्री महाराज परीक्षित् ने पूछा—भगवन् ? जिनके दो दो पुत्र मनु हैं उन विवस्वान् की स्त्रियाँ और पुत्रों का मैं परिचय प्राप्त करना चहता हूँ। इनका परिचय कराके तब आ। अष्टम मन्वन्तर का वर्णन करें।

यह सुनकर श्री शुकदेव जी बोले—"राजन् ! यह तो वहुत लम्बी कथा है । यदि इस मन्वन्तर के प्रसंग में उसे मैं कहने लगूँ तब तो कथा का प्रवाह ही रुक जायगा। किन्तु फिर भी मैं संक्षेप में आप को विवस्वान् सूर्य की संतति का परिचय कराता हूँ ।

मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि भगवान् कश्यप की पत्नी अदिति के गर्भ से १२ पुत्र हुये जो द्वादश आदित्य कहलाये जिनके नाम विवस्वान् अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, धाता विधाता, वरुण, मित्र, शक्र और वामन हैं। विवस्वान् इन सब में बड़े थे। इनका विवाह प्रजापति विश्वकर्मा की संज्ञा नामक पुत्री से हुआ।

इस पर श्री शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! हमने पुराणों के कथा प्रसङ्ग में ऐसा सुना है विवस्वान् की संज्ञा, छाया, और वडवा ये तीन पत्नियां थीं और आप कह रहे हैं, कि उनकी एक ही पत्नी थी। यह क्या बात है ?"

इस बात पर सूत जी बोले—"हाँ महाराज, सत्य है वव-स्वान् के तीन ही पत्नियाँ थीं, किन्तु तीनों एक ही थीं। संज्ञा के ही भेद हैं या कहना चाहिये संज्ञा ने ही इनका निर्माण किया था। उसी ने अपने तीन रूप बना कर तीनों से संतानोत्पत्ति की।

इस पर शौनक जी बोले—"एक संज्ञा ने तीन रूप क्यों बनाये सूत जी ! इस कथा प्रसङ्ग को तो हमें सुना ही दें, इसे सुनने को हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।

सूत जी यह सुनकर बोले—"अच्छी बात है महाराज, सुनिये ! विवस्वान् सूर्य का नाम है। ये बड़े प्रकाशवान् हैं इनका तेज असह्य है। कोई अधिक काल इनकी ओर आँख फाड़ कर देख भी नहीं सकता। देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा की एक पुत्री थी संज्ञा। उसका विवाह उन्होंने भगवान् विवस्वान् के साथ कर दिया। विवस्वान् अपनी पत्नी के साथ रहने लगे। पति पत्नी जब समान होते हैं, प्रेम तभी हुआ करता है, पति धनिक हो,कन्या किसी कङ्गाल घर की हो,या पति दरिद्र का पुत्र हो, पत्नी बहुत धनिक घर की हो तो परस्पर में मनोमालिन्य रहता ही है। पति बहुत पढ़ा लिखा हो, पत्नी मूर्खा हो, या पत्नी पूर्ण विदुषी हो पति गोबर गणेश हो, तो भी उनमें अनबन रहती है। पति अत्यन्त सुन्दर हो पत्नी कुरूपा हो अथवा पत्नी अप्सरा के समान सुन्दरी हो और पति भौंड़ा कुरूप हो तो भी पट्टरी नहीं बैठती। पति अत्यन्त तेजस्वी हो पत्नी सीधी सादी तेजहीन हो, तब भी मन नहीं मिलने पाता। इसीलिये सम्बन्ध समान कुल में करना चाहिये। जो लालच बस लड़कियों को बड़े घरों में देते हैं उन बड़े घरों में निर्धनों की लड़कियों का पग पग पर कैसा तिरस्कार होता है, इसे उन लड़कियों के अतिरिक्त कौन अनुभव कर सकता है। जो विद्वान् वर के लोभ से अपनी अनपढ़ पुत्री का बहुत बड़े तेजस्वी विद्वान् के साथ विवाह कर देते हैं उन्हें पति से किस प्रकार दूर दूर रहना पड़ता है, किस प्रकार कभी कभी सम्बन्ध विच्छेद तक की नौबत आ जाती है, ऐसी घटनायें सनातन से होती आई हैं।

विश्वकर्मा जी से भी यही भूल हो गई। संज्ञा तो सीधी सादी लड़की थी। सूर्य बड़े तेजस्वी थे। संज्ञा उनके तेज

को सहन न कर सकी संज्ञा के गर्भ से तीन सन्तानें भी हो चुकी थीं। उनमें श्राद्धदेव और यमदेव दो तो पुत्र थे और यमुना नाम की तीसरी कन्या थी। तीन सन्तानें उत्पन्न हो जाने पर भी संज्ञा सूर्य के सम्मुख आने में भयभीत होती थी। वे बड़े तेजस्वी थे। तीनों लोकों को तपाने वाले और प्रकाश देने वाले ही जो ठहरे।

एक दिन संज्ञा ने सोचा—मेरा इस घर में निर्वाह होगा नहीं। अपने पति का इतना तेज मुझसे सहन न होगा। इसलिये उसने अपनी छाया से अपनी ही भाँति एक स्त्री की रचना की। विश्वकर्मा की बेटी ही ठहरी, बाप का गुण आना स्वभाविक ही है। वह स्त्री ऐसी बनी कि संज्ञा और छाया में कोई अन्तर ही प्रतीत नहीं होता था। इस प्रकार छाया को घर में रखकर और उसे अपनी सन्तानों की भली भाँति देख रेख रखने का आदेश देकर एक दिन वह चुपके से अपने घर से निकल पड़ी। स्त्री पति के घर से निकले तो जाय कहाँ ? स्त्री के लिये स्वाधीन रहना तो कठिन ही है स्वतन्त्र रहने में उसके धर्म की रक्षा होना कठिन हो जाता है, इसलिये उसके लिए दो ही स्थान हैं, पति का घर या पिता का घर। इसीलिये संज्ञा प्रथम अपने पिता विश्वकर्मा के घर गई और जाकर पिता से सब बातें सत्य सत्य कह दीं।

पिता ने डाँट डपट कर कहा—'बेटी ! हमें तेरी यह बात अच्छी नहीं लगी। कैसा भी हो सयानी लड़की को अपने घर रहना चाहिये। रहना तो वहीं हैं, जा भाग जा, सूर्यनारायण सुनेंगे तो मेरे ऊपर क्रुद्ध होंगे।

संज्ञा ने देखा कितनी आशा से मैं पिता के घर आई थी

पिता ने मुझे घर में भी न घुसने दिया उलटे पैरों ही लौटा दिया। अब मैं न पति के घर जाऊँगी न पिता के घर वन में जाकर रहूँगी।' इस प्रकार मन में निश्चय करके वह घोर वन में चली गई। युवती स्त्री का एकान्त वन में रहना उचित नहीं अतः इच्छा के अनुसार रूप रखने की शक्ति होने के कारण वह घोड़ी बन कर वहाँ रहने लगी। देखने वाले समझते थे कोई घोड़ी चर रही है। इस प्रकार वह एकान्त में अपने दिन काटने लगी।

इधर छाया विवस्वान् की सेवा संज्ञा की ही भाँति करने लगी। उन्हें सन्देह तो कुछ था ही नहीं, वे छाया को संज्ञा ही समझते थे। आकृति प्रकृति सभी उसकी संज्ञा के ही समान थी। वह संज्ञा के बच्चों का भी अच्छी प्रकार से पालन पोषण करती। कालान्तर में उसके गर्भ से भी दो पुत्र और एक कन्या तीन संतानें हुई। पुत्रों का नाम सावर्णि और शनैश्चर था, कन्या का नाम था तपती। इस प्रकार तीन संज्ञा की और ३ छाया की छः संतानें हो गईं। सब बच्चे छाया को ही अपनी माता समझते थे।

मनुष्य का स्वभाव है, वह कितना भी प्रयत्न करे अपने पराये का भेद भाव हो ही जाता है। विशेषकर स्त्रियों में सपत्नी के बच्चों के प्रति विरक्ति सनातन से चली आई है। इसके अपवाद स्वरूप भी कुछ मातायें होती ही हैं। किन्तु अपवाद तो अपवाद ही हैं। वह नियमतो हो नहीं सकता। छाया भी अपने पुत्रों में और संज्ञा के पुत्रों में भेद भाव रखने लगी। लड़कियाँ तो बिचारी सह लेती हैं, किन्तु लड़कों से भेद भाव सहा नहीं जाता। संज्ञा के पुत्र श्राद्धदेव और यमराज

तथा उनकी बहिन यमुना के साथ छाया का वर्ताव अच्छ
नहीं था। कोई मिठाई या सुन्दर वस्त्र आते तो चुपके चुप
अपने पुत्रों को छाया दे देती। ये तीनों वैसे ही रह जाते
यमुना तो लड़की ही ठहरी। सब सह लेती। श्राद्धदेव बड़े थे
बुद्धिमान् थे, वे इन बातों पर ध्यान ही न देते। यम कुछ क्रोध
स्वभाव के थे। एक दिन किसी बात को लेकर वाद विवाद हो
गया। बात छोटी थी, किन्तु मन तो पहले से ही विगड़े हुए थे
हृदय के भाव तो पहिले ही से दूषित थे। आज वे उमड़ पड़े
छाया ने यम को उसकी अशिष्टता पर डाँटा। यमराज लड़के
ही ठहरे, नया रक्त था, क्रोध में भर कर उन्हों ने माता क
मारने को लात उठाई।

इस पर अत्यन्त क्रोध में भर कर छाया ने यम को शा
दिया—"जिस पैर को तू मुझे मारने को उठा रहा है, उस
कीड़े पड़ जायँ। वह गल कर गिर पड़े।"

अब तो यमराज बड़े घबड़ाये। रोते रोते अपने पिता के
पास गये और जाकर कहा—"देखिये, पिता जी ! मुझे मात
जी ने शाप दिया है, कि मेरे पैर में कीड़े पड़ जांय और व
गिर पड़े।"

विवस्वान् ने कहा—"तैंने भी भैया ! कुछ कहा होगा
ताली एक हाथ से तो बजती नहीं। अवश्य ही तैंने कोई महा
अनिष्ट कार्य किया होगा।"

रोते रोते यम बोले—"नहीं, पिता जी ! मैंने कुछ न
कहा। हम देखते हैं, यह सदा हम तीनों से चिढ़ी रहती है
हमारे साथ विषम व्यवहार करती हैं। हमसे छोटे जो साव

शनैश्चर और तपती भाई बहिन हैं, उनसे तो वहुत प्यार करती है, अच्छी अच्छी वस्तु उन्हें ही खिलाती पिलाती है। हम लोगों की सदा उपेक्षा करती है। जूठा कूठा बासी तिबासी अन्न दे देती है। और भी अनेक प्रकार के विषम व्यवहार करती है। आज बातों ही बातों में वह मुझ से लड़ पड़ी। मैंने बाल चापल्य वश उसे मारने को पैर उठाया, तब उसने यह दारुण शाप दे दिया। पिता जी ! हम सदा से सुनते आये हैं, कि पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, माता कभी कुमाता नहीं होती। इसने तो यह सब कुमाता का ही काम किया है। इसलिये हमें तो इसके व्यवहार से संदेह होता है, कि यह हमारी यथार्थ सगी माता नहीं। यह कोई दूसरी स्त्री है।"

यह सुनकर विवस्वान् को भी सन्देह हुआ। उन्होंने ध्यान लगाया, तो ज्ञात हुआ "अरे, यह तो उसकी छाया है।" तब तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और उसी समय उसके समीप जाकर बोले—"क्यों दुष्टे ! तू कौन है सत्य सत्य बता।"

यह सुनकर छाया तो थर थर कांपने लगी सूर्य के अपार तेज को न सह सकने के कारण अत्यन्त भयभीत होकर उसने सब सत्य सत्य बातें बतादीं।

सूर्य नारायण ने पूछा—"यह सब तैंने पहिले मुझे क्यों नहीं बताया।"

छाया ने स्खलित वाणी में काँपते हुए रुकरुक कर कहा—"देव ! मुझे संज्ञा देवी शपथ दिला गई थी, कि मैं आपसे इस बात को तब तक न कहूँ जब तक मेरे प्राणों पर न बन आवे। आज जब आप मुझे भस्म करने पर उतारू हो गये, तब

मैंने यह सच सच बात आपके सम्मुख निवेदन कर ही दी। अव आप जो उचित समझें वह करें। मुझे दण्ड देने योग्य समझें तो दण्ड दें, किन्तु प्रभो। इसमें मेरा अपराध कुछ भी नहीं है।"

सूर्यदेव ने भी सोचा—"हाँ इसका क्या अपराध है, चलो, अपनी यथार्थ पत्नी की खोज करें।" यह सोचकर वे दौड़े दौड़े विश्वकर्मा के लोक में गये। अपने दामद को आते देख विश्वकर्मा ने उनका स्वागत किया और कुशल प्रश्न पूछे।"

विश्वकर्मा के कुशल प्रश्नों का उत्तर न देकर बड़े क्रोध के साथ सूर्य ने कहा—"आप बड़े वैसे आदमी हैं जी। आपको अपनी लड़की अपने घर में ही रखनी थी, तो हमारे साथ विवाह क्यों किया? इतने दिन से वह हमें छोड़कर चली आई है, आपने समाचार तक नहीं दिया।"

विश्वकर्मा ने विनय के साथ उत्तर दिया—"लल्लूजी! क्रोध मत करो। पहिले मेरी बात तो सुनो। मुझे क्या आवश्यकता थी, कि अपनी लड़की को बुलाकर रखता। वह मेरे यहां आई तो अवश्य थी। किन्तु मैंने उसे लौटा दिया था। वह फिर आपके पास लौटकर नहीं गई। इसे मैं आज आप से ही सुन रहा हूं।"

सूर्यदेव ने कहा—"मेरे घर में कमी किस वस्तु की है, वह मेरे घर को छोड़कर भागी ही क्यों?"

इस पर गम्भीर होकर धैर्य के साथ विश्वकर्मा ने कहा—"महाराज! बुरा न मानें। स्त्री कुछ धन की, भोजन वस्त्रों की

ही भूखी थोड़े ही होती है। उसे तो चाहिये पति का प्यार। जहाँ पति का प्यार नहीं; वहाँ संसार भर की सम्पत्ति नारी के लिये तृण के समान है और जहाँ प्यार है, वहाँ एक बार सायंकाल को साग भी मिले तो अमृत के समान है। वह आपके इतने प्रवल तेज को सहन नहीं कर सकती। विषमता में प्रेम हो नहीं सकता। अतः अपने तेज को कुछ कम कीजिये मैं उसका पता बताता हूँ वह अमुक अरण्य में घोड़ी बनकर तपस्या करती है।"

यह सुनते ही विवस्वानन् भी घोड़ा बनकर उसके समीप गये। वडवा वनी अपनी पत्नी से वाडव सूर्य ने सङ्गम किया। उसी से तो अत्यन्त सुन्दर देवतुल्य दो पुरुष उत्पन्न हुए। उनका नाम अश्विनी कुमार हुआ। ये दोनों सदा साथ रहते हैं और देवताओं के राजवैद्य हैं।

दोनों लौट कर फिर विश्वकर्मा के समीप आये। सूर्यदेव ने कहा—"तुम संसार में सर्वश्रेष्ठ शिल्पी हो, मेरे तेज को कम कर दो।" यह सुनकर विश्वकर्मा ने सूर्य को खराद पर चढ़ाकर उनका तेज कम कर दिया। इतने पर भी कम न हुआ तो उनके १२ भाग कर दिये। तभी से द्वादश सूर्य हो गये। खरादने से जो तेज वचा, उससे भगवान् का सुदर्शन चक्र, शिवजी का त्रिशूल उनका आजगव धनुष तथा इन्द्र का वज्र बना।

यह सुनकर हँसते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी! कभी कभी तो आप बुद्धि के वाहर की बातें कह जाते हैं। सूर्य कोई लोहे के गोले तो हैं ही नहीं जो रेती से रेतकर या खराद पर

चढ़ाकर उन्हें छोटा कर दिया। वे तो देवता हैं, एक जाज्वल्य मान ग्रह हैं।"

सूतजी बोले—"महाराज ! सब बातें आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन भावों से कही जाती हैं। सभी में रूपक होता है। यह संसार ही कालचक्र है, इस पर चढ़ाकर अपने तेज को जो परोपकार के कामों में व्यय करता है, उसी का तेज सफल है उसी से सर्वात्मा प्रभु की सन्तुष्टि है। जो अपने तेज के घमण्ड में ऐंठे रहते हैं, सदा दूसरों का अपमान करते हैं, नम्रता धारण नहीं करते। विश्व के रचने वाले के समीप नम्र होकर आत्म समर्पण नहीं करते। अपने तेज को विभक्त नहीं करते। उनसे कोई सन्तुष्ट नहीं होता। अपने लोग पराये हो जाते हैं। आधिदैविक रूप में तो देवता जैसे चाहें वैसे बन सकते हैं।"

शौनक जी ने कहा—"अच्छा, हाँ तो फिर क्या हुआ। उनकी सन्तानों ने क्या किया ?"

सूतजी बोले—"विवस्वान् के सबसे बड़े पुत्र श्राद्धदेव तो इस मन्वन्मर के मनु ही बन गये। दूसरे पुत्र यम ने घोर तपस्या करके लोकपाल की पदवी प्राप्त की। वे प्राणियों के पुण्य पाप का फल देते हैं और यम रूप से पापियों का शासन भी करते हैं। इनकी बहिन यमुना नदी रूप से पापियों को तारती हैं, वे भगवान् की पटरानी हुईं। छाया के प्रथम पुत्र सावर्णि अब तक सुमेरु पर तप करते हैं। आगामी मन्वन्तर में वे भी मनुपद को प्रतिष्ठित करेंगे उनके दूसरे पुत्र शनैश्चर ग्रह हो गये। ये सब ग्रहां से शनैः शनैः चरते हैं इसीलिये शनैश्चवर कहाते हैं। कोई ग्रह सवा दो दिन, कोई महीने, कोई वर्ष

इतने में ही ज्योतिश्चक्र की पारिक्रमा कर लेते हैं, किन्तु इन्हें ढाई वर्ष लग जाते हैं। ये जिसकी ओर देख लेते हैं उसका सर्वनाश हो जाता है। इनकी बहिन तपती का विवाह राजा सवर्ण के साथ हुआ। ये भी पीछे नदी होकर बहने लगीं।

ये सबके सब भाई शासक और कर्मानुसार फल देने वाले हुए। इन सबमें यमुना ही एक ऐसी दयावती हुई, जो पापियों को भी मुक्ति देने वाली हैं। इनका कार्य ही है पतितों का उद्धार करना। इन्होंने यम से भी बहिन होने के नाते कुछ सुविधायें करालीं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"विवस्वान् पुत्री यमुना ने अपने भाई यम से प्राणियों के लिये कौन सी सुविधायें कराईं इसे हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! यमुना बड़ी दयावती थीं। उनका भाई यम उतना ही कठोर हृदय था। वह नित्य ही प्राणियों को मारता, और पापियों को कठोर दण्ड देता, यह देखकर यमुना को बड़ी दया आई। उसने अपने भाई से कई बार कहा—"भैया! इतना प्राणियों को कष्ट देना उचित नहीं।"

यमराज यह सुनकर यमुना को डाँटते हुए कह देते—"तू तो लड़की है, तुझे बुद्धि तो है नहीं। कर्तव्य का पालन करना ही धर्म है।"

यमुना चुप हो जाती। उसने कई बार यम को अपने घर बुलाया, किन्तु यम को इतना अवकाश कहाँ जो किसी के घर जाते। यमुना भ्रातृस्नेह से बराबर बुलाती ही रहती।

एक वार यम ने सोचा—"चलो, छोटी बहिन है, वार बार बुलाती है, इसके घर हो आवें।" यह सोचकर यमराज उसके घर गये। यमुना ने अपने भाई को देखकर उसका बड़ा सत्कार किया। अनेक प्रकार के सुन्दर सुन्दर व्यंजन बनाये। बड़े स्नेह से अपने हाथों से ही उसने बहुत सी वस्तुएँ बनाईं। सुन्दर आसन बिछाकर उसे भोजन कराया। माला पहिनाई, ताम्बूल दिया। उसके मस्तक पर तिलक काढ़ा। यमराज ने बहिन को कुछ दक्षिणा दी। इस पर अत्यन्त प्रेम से यमुना ने कहा—"ना, भैया! मैं यह रुपये पैसे की दक्षिणा नहीं लेती। यदि तुम्हें कुछ देना ही है, तो मुझे एक वरदान दे दो।"

यमराज ने कहा—"अच्छा, बोल! क्या वरदान चाहती है?"

यमुना ने कहा—"मैं यही चाहती हूँ, कि आज के दिन जो बहिन अपने भाई को प्रेम पूर्वक भोजन कराके उसके माथे पर कुंकुम का टीका करे, और भाई उसका दक्षिणा आदि से सत्कार करे, तो उन दोनों को तुम्हारे यहाँ की यम यातनायें न सहनी पड़ें।

यमराज ने हँसकर कहा–"बहिन! तैने मुझे ठग लिया। अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। आज से जो इस दिन बहिन भाई को अत्यन्त स्नेह से जिमावेगी और भाई उसका हृदय से सत्कार करेगा; तो दोनों ही मेरे दण्ड के भागी न होंगे।" यह कहकर यम अपने लोक को चले गये।

वह दिवाली के अनन्तर कार्तिक शुक्ला द्वितीय का दिवस था। उसी दिन से उस द्वितीय का नाम भ्रातृद्वितीया पड़ गया। तभी से सभी स्नेहमयी बहिनें अपने भाइयों को उस दिन स्नेह

पूर्वक भोजन करती हैं और उनसे दक्षिणा जो पाती हैं सो तो पाती ही हैं, यमराज की यातना से भी यमुनाजी की कृपा से बचती हैं इसलिये उस दिन यमुना का स्नान अवश्य करना चाहिये और यमुना किनारे ही हो सके तो भाई को जिमाना चाहिये। यमुना किनारा न मिल सके तो घर पर ही सही।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने संक्षेप में विवस्वान् सूर्य और उनकी संतानों की कथा सुनाई अब आप आने वाले सात मन्वन्तरों का वृत्तान्त और सुनें।

छप्पय

संज्ञा छाया छोड़ि गई वन बड़वा बनि कै।
दुखित दिवाकर भये ससुरतैं सब कछु सुनि कैं॥
वडवा वनि कै वैद्य अश्विनी कुमर जनाये।
संज्ञा कूँ लै संग ससुर ढिग सूरज आये॥
ससुर कर्यो कछु तेज कम, रवि द्वादश ह्वै गये तब।
विवस्वान् को वंश यह, राजन्! तुमतैं कर्यो सब॥



आगामी सात मन्वन्तरों की कथा

(५४६)

राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते ।
प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः ।।*।।
(श्री भा० ८ स्क० १३ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

अष्टम मनु सावर्णि होहिगे सार्वभौम हरि ।
नवें दक्षसावर्णि प्रकट हरि ऋषभ नाम धरि ।।
दशम ब्रह्म सावर्णि विश्वसेनहु होंगे विभु ।
एकादश सावर्णिधर्म मनु धर्मसेतु प्रभु ।।
रुद्रसवर्णी बारवें अंश सुधामा श्याम के ।
देव सवर्णी तेरवें देवहोल हरिमाम के ।।

प्राय: कथा प्रसंग में वंशावली सुनने की ओर श्रोताओं की रुचि कम होती है । उसका यह पुत्र हुआ उसका यह मैत्री

* श्री शुक देवजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार मैंने भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों के चौदहों मनुओं की कथा सुनादी । इन्हीं से सहस्त्रयुग वाले ब्रह्माजी के एक दिन अर्थात् कल्प का मान किया जाता है ।

पुरोहित हुआ, केवल इस बात के सुनने से लाभ ही क्या ? यदि कोई विशिष्ट घटना हो, तो उसमें रुचि भी बढ़ती है विशेष घटना न हो, तो उसमें प्रवृत्ति न हो। प्रवृत्ति कराने को ही उसका फल बताया जाता है, कि वंशावली सुनने से, इनका नाम सुनने से स्वर्ग में यह मिलता है, इतना पुण्य बढ़ता है, क्योंकि वंशावली न बताई जाय, तो आगे कथा प्रसङ्ग चले कैसे। बीज होता है तभी उसका विस्तार हुआ करता है। अतः वंशादि का प्रकरण नीरस भी हो, तो उसे धैर्यपूर्वक पुण्यप्रद समझ कर श्रद्धा के साथ सुनना चाहिये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! मैंने इस कल्प के छै बीते हुए मन्वन्तरों की कथा सुनाई। सातवाँ जो वर्तमान मन्वन्तर चल रहा है उस के सम्बन्ध में भी तुमसे कहा।

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा—"भगवान् ! वर्तमान मन्वन्तर की कथा तो आपने अत्यन्त ही संक्षेप में कहीं वैवस्वत मनु के वंश का वर्णन नहीं किया। इस मन्वन्तर के अवतार भगवान् वामन का विशेष चरित्र नहीं कहा। इन सबको विस्तार से सुनाइये। जो बीत गये वे तो बीत ही गये। आने वाले अभी भविष्य के गर्भ में छिपे हैं। काम तो हमें वर्तमान से है।

श्री शुक ने कहा—"राजन् ! मैं वैवस्वत मनु के वंश का वर्णन विस्तार से करूँगा। भगवान् वामन के चरित्र को भी सुनाऊँगा। किन्तु इस कथा प्रसङ्ग को पूर्ण करने के लिये। संक्षेप में आप इस कल्प के भूत, वर्तमान और भविष्य के मनुओं का वृत्तांत सुन लीजिये। भूत और वर्तमान के मनुओं की कथा तो मैंने सुना ही दी। अब आगामी सात मनुओं की कथा सुनें।"

राजा बोले—"अच्छी बात है महाराज ! संक्षेप में सुनाइयेगा। भविष्य तो भविष्य ही है।

इसपर श्रीशुक बोले—"अच्छा सुनिये! आठवें मनु विवस्वान् के पुत्र छाया सुत सार्वणि होंगे। निर्मोह तथा विरजस्क आदि उनके पुत्र होंगे। विरोचन के पुत्र बलि उस मन्वन्तर के इन्द्र होंगे। पीछे वे इन्द्र पद को भी त्याग कर मुक्त हो जायँगे। उस समय गालव, दीप्तिमान्, परसुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यश्रृंग और हमारे पिता भगवान् व्यास ये ऋषि सप्तर्षि होंगे, जो इस समय अपने अपने आश्रम मण्डल में समाधि में स्थित हैं। उस मन्वन्तर में भगवान् सार्वभौम नाम से अवतार ग्रहण करेंगे। उनकी माता का नाम सरस्वती और पिता का नाम देवगुह्य मुनि होगा। ये वर्तमान इन्द्र से इन्द्र पद छीनकर बलि को इन्द्रासन पर बिठावेंगे।

नववें मनु वरुण के पुत्र दक्षसावर्णि होंगे उनके भूतकेतु दीप्तिकेतु आदि पुत्र होंगे। पार, मरीचगर्भ आदि देवताओं के गण होंगे। अद्भुत नामक इन्द्र और द्युतिमान् आदि सप्तर्षि होंगे। उस मन्वन्तर में भगवान् आयुष्मान् से अम्बुधारा नामक पत्नी में ऋषभनाम से अवतरित होंगे। वे इन्द्र को त्रैलोक्य का राज्य प्रदान करेंगे।

दशवें मनु उपश्लोक के पुत्र ब्रह्म सावर्णि होंगे। उनके भूरिषेण आदि पुत्र होंगे तथा हविष्मान् सुकृति, सत्य, जय मूर्ति आदि सप्तर्षि होंगे। सुवासन और विरुद्ध आदि देवता तथा इन्द्र का नाम शम्भु होगा। इस मन्वन्तर में भगवान् विष्वक्सेन नाम से विश्वस्रष्टा के गृह विषूचि नाम की स्त्री

पत्नी के गर्भ से अवतीर्ण होकर शम्भु की सहायता करके उन शतक्रतु को सुखी करेंगे।

ग्यारहवें महामनस्वी धर्मसावर्णि नाम के मनु होंगे। उनके सत्य धर्मादि दश पुत्र होंगे। उस समय के देव गणों के नाम विहंगम, कामगम और निर्वाणरुचि होंगे। इन्द्र का नाम वैधृत होगा। अरुण आदि सात ऋषि उस समय के सप्तर्षि होंगे। आर्यकका के वीर्य से वैधृता के गर्भ से उस समय भगवान् का मन्वन्तरावतार धर्मसेत नाम से विख्यात होगा और उस मन्वन्तर पर्यन्त इन्द्र का पालन उन्हीं अंशावतार द्वारा होगा।

बारहवें मनु का नाम रुद्रसावर्णि होगा। उसके देववान् उपेक्ष और देवश्रेष्ठ आदि मनु पुत्र होंगे जो उस मन्वन्तर पर्यन्त पृथिवी का पालन करेंगे। उस समय ऋतधामा नाम के इन्द्र होंगे। हरितं आदि देवताओं के गण होंगे तपोमूर्ति, तपस्वी तथा आग्नीध्रकादि सात मुनि उस मन्वन्तर के सप्तर्षि होंगे। सत्यसह नामक मुनि से उनकी पत्नी सूनृता में भगवान् श्रीहरि का अंशावतार होगा। जो सुधामा नाम से विख्यात होकर उस मन्वन्तर का पालन करेंगे।

तेरहवें मनु का नाम देवसावर्णि होगा। तथा चित्रसेन और विचित्र आदि उसके मनुपुत्र होंगे। उस समय सुकर्म और सुत्राम नामक देवगण होंगे, इन्द्र का नाम दिवस्पति होगा। तथा निर्मोक और तत्वदर्श आदि सात महर्षि सप्तर्षि के पद पर प्रतिष्ठित होंगे। उस समय के दिवस्पति इन्द्र को इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित कराने और मन्वन्तर पर्यन्त इसका पालन करने के निमित्त योगेश्वर नाम से भगवान् अवतार धारण करेंगे। उनकी माता का नाम वृहती और पिता का नाम देवहोत्र होगा।

चौदहवें इन्द्र का नाम होगा इन्द्रसावर्णि । उ
और गम्भीरबुद्धि आदि उनके प्रसिद्ध पुत्र होंगे । उस सम
के पवित्र और चाक्षुष आदि देव गण होंगे । शुचिनाम
इन्द्र होंगे तथा अग्निबाहु, शुचि, शुद्ध और मागध आ
सप्तर्षि गण होंगे । राजन् ! उस मन्वन्तर में विताना नाम
महा भाग्यवती माता के गर्भ से सत्रायण के पुत्र बृ
भानु नाम से भगवान् के अंशावतार अवतीर्ण होंगे। वे
मन्वन्तर के मनु का पालन करेंगे और संसार में कर्म काम
विस्तार करेंगे .

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"यह मैंने ६ भूत एक वर्तं
और सात भविष्य के इस प्रकार १४ मन्वन्तरों का वर्णन किय
ब्रह्मा जी के एक दिन में १४ मनु, १४ इन्द्र, १४ सप्तर्षि, १४ दे
ताओं के गण, १४ मनु पुत्रों के वंश और १४ भगवान्
मन्वन्तरावतार होते हैं, तब ब्रह्मा जी का एक दिन होता
उसकी कल्प संज्ञा भी है । कल्पान्त में तीनों लोक
हो जाते हैं नैमित्तिक प्रलय हो जाती है । उतनी ही
ब्रह्मा जी की रात्रि होती है ऐसे ३६० दिन रात्रियों का ब्रह्मा
का एक वर्ष होता है। अपने वर्षों से ब्रह्मा जी १००
पर्यन्त जीते हैं । १०० वर्ष के अनन्त दूसरे ब्रह्म आजाते
फिर ऐसे ही सृष्टि क्रम चालू हो जाता है फिर सृष्टि ह
है, फिर कल्प होते हैं। यह चक्र अनादि से चल रहा है।
न्त काल तक चलता रहेगा। इसका न ओर है न छोर
काल चक्र में मनुष्यों के १०० वर्ष जिनके ऊपर मनुष्य
गर्व करते हैं—नित्य बड़े बड़े पाप करते हैं—उतने भी
जितने कि अनन्त अगाध समुद्र के दो विन्दु । इसलिये

मान छोड़कर उन काल रूप कृष्ण को ही चिन्तन करना चाहिये।

छप्पय

चौदहवें सावर्णि इन्द्र मनु होंहि तपस्वी।
सत्रायण सुत वहद्भानु हरि होंहि यशस्वी॥
यों भविष्य अरु भूत कहे ये मन्वन्तर सब।
इन सब को का काज, करूँ ताको वर्णन अब॥
मन्वन्तर की पुण्यमय, सुनैं कथा जे प्रेम तैं।
हरि पद पावें करैं जे, कथा कीरतन नैंम तैं॥



मन्वन्तरों के मनु आदि के कार्य।

(५४७)

मन्वंतरेषु भगवन् यथा मन्वादयस्त्विमे।
यस्मिन्कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद्वदस्व मे ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १४ अ० १ श्लोक)

छप्पय

मन्वन्तर पर्यन्त करैं पालन मनु जग कूँ।
सब सप्तर्षि समूह बतावें श्रुति के मग कूं ॥
पृथिवी पालन करैं होंहि जे मनु के वंशज।
लेकें हरि अवतार करैं पालन सुरपति अज॥
पावैं सब ही देवगन, भाग यज्ञ अरु हवन महँ।
सुरपति बनि देवेन्द्र हू, पूजित होवें सुरनि महँ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् एक नियम के अवस्थित है। [illegible] के कार्य निश्चित हैं, सब कार्यों का कार्य काल निश्चित है सब की आयु, सुख, दुख आदि पहिले से ही लिखे हुए है

---

* राजा परीक्षित श्री शुकदेव जी से पूछ रहे हैं—भगवन्! [illegible] ने जो मन्वन्तरों के मनु इन्द्रादि बताये भिन्न भिन्न मन्वन्तरों में [illegible] के द्वारा जिस जिस कार्य में नियुक्त किये जाते हैं, उन उन कार्यों [illegible] वर्णन और कीजिये।

यदि ऐसा न हो, तो ज्योतिष आदि भविष्य को बताने वाले सब शास्त्र व्यर्थ हो जायँ। हम अज्ञता के कारण भविष्य की बातों को नहीं जानते इसीलिये अँधेरे में भटकते रहते हैं। जब हमें तीनों कालों का ज्ञान हो जाय तब आश्चर्य करने की कोई बात ही न रह जाय। इन्द्र का कार्य निश्चित है। उनका कार्यकाल निश्चित है। इसी प्रकार सबका पहिले से ही सब निश्चित है। जीव भ्रम वश भटकता है, अज्ञान वश दुखी होता है, इस सृष्टि के रहस्य को भली भाँति समझ लें हृदय पटल पर इसे अंकित करले, तो फिर कुछ चिन्ता की कोई बात नहीं रह जाती। इसीलिये शास्त्रों में बार बार सृष्टि का उसके नियमों का वर्णन किया जाता है। जिसे जान कर जीव शोक मोह तथा विस्मय आदि से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

जब भूत भविष्य वर्तमान के १४ मन्वन्तरों में होने वाले मनु, मनुपुत्र, इन्द्र, देवगण सप्तर्षि और भगवान् के मंवतंरावतार का वर्णन श्रीशुक ने किया, तब सब सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! आप ने भिन्न भिन्न मन्वन्तरों के मनु आदि का वर्णन तो किया; किन्तु मुझे एक शंका तो रह ही गई। ये सब छैऊ भगवान् के अवतार भेद ही हैं। इन सब का कार्य क्या क्या है। मन्वन्तर के मनु कौन सा काम करते हैं। उनसे उत्पन्न हुये पुत्र उनके किस कार्य में क्या क्या सहयोग देते हैं। इन्द्र क्या करते हैं। इतने देवताओं के गणों की सृष्टि के लिये आवश्यकता क्या है। सप्तर्षि मिलकर किस कर्तव्य का पालन करते हैं प्रत्येक मन्वन्तर में पृथक् पृथक् भगवान् के अंशावतार की आवश्यकता क्यों है? भगवान् अवतरित होकर कौन सा कार्य करते हैं?"

महाराज परीक्षित् के इन बचनों को सुनकर श्रीशुक गंभीर

हो गये और बोले—राजन् ! ये छः देखने में ही पृथक् २ प्रतीत होते हैं। वास्तव में तो ये सब एक ही हैं। श्रीहरि ही सृष्टि की रक्षा के निमित्त छः रूप धारण कर लेते हैं। प्रजापालक प्रभु ही अपनी कला अथवा अंश से इन सब में प्रवेश कर जाते हैं फिर अपने आप ही इन सब के शासक बनकर शासन करते हैं। मन्वन्तरावतार लेकर भगवान् मनु इन्द्र आदि की रक्षा करते हैं, उन्हें संकटों से बचाते हैं, असुरों को दण्ड देते हैं तथा संसार यात्रा का निर्वाह करते हैं।

मन्वन्तर के अधिपति मनु ब्रह्मदेव की रचित तथा हरि द्वारा प्रचलित इस सृष्टि के प्रजा जनों से धर्म का आचरण कराते हैं। चतुष्पाद धर्म की स्थापना करते हैं। सत्य, त्रेतादि धर्म प्रधान युगों में पृथिवी पर रहते हैं। तथा अधर्म प्रधान कलियुग आदि युगों में गुप्त रूप से अन्य वर्षों या लोकों में ध्यान मग्न रहते हैं। मनु के पुत्र मन्वन्तर पर्यन्त पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्रादि क्रम से इस समस्त भूमण्डल में भूपति बन कर शासन करते हैं।

इन्द्र स्वर्ग के राजा होते हैं। वे सभी सुरों के शासक तथा अधिपति होते हैं। भगवान् की दी हुई त्रिभुवन की लक्ष्मी का वे उपभोग करतें हैं। स्वर्ग के अति उत्कृष्ट सुखों को भोगते हुए तीनों लोकों का पालन करते है। उसके साथ ही देवताओं के पृथक् पृथक् गण भी होते हैं। वे भी मन्वन्तर पर्यन्त पंच महायज्ञादि कर्मों में जिन ऋषि, पितृ, भूत, मनुष्य आदि को भोक्ता रूप से सम्बन्ध है उन सब के साथ यज्ञ का भाग ग्रहण करते हैं। मनुष्य यज्ञ के द्वारा देवताओं का भजन करते हैं। इससे प्रसन्न हुए देवता गण उनके सा

मनोरथों को पूर्ण करते हैं यों परस्पर के भाव से भावित हो कर परम श्रेय के अधिकारी होते हैं।

उस मन्वन्तर में होने वाले सप्तर्षि गण वेदों का उद्धार करते हैं, शास्त्रों का प्रचार करते हैं, भिन्न-भिन्न रूप रखकर धर्म की संस्थापना करते हैं। जैसे ज्ञान का प्रचार करने के लिये सनकादि सिद्धों का रूप रख लेते हैं और प्रजा को ज्ञानोपदेश करते हैं। कुछ मुनि स्मृतिकार बनकर कर्मकांड का उपदेश करते हैं। याज्ञवल्क्यादि रूपों में स्वयं कर्मकांड का आचरण करते हैं अन्य गृही आदिकों को प्रेरित करते हैं। दत्तात्रेय कपिल आदि योगेश्वरों का रूप रखकर योगमार्ग का प्रचार करते हैं। नारदादि रूप से भक्ति के पांचरात्र आदि शास्त्रों का प्रचार, प्रसार करते हैं।

श्री हरि के ही ये सब स्वरूप हैं। वे ही स्वयं प्रजापति रखकर अंडज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज रूप में समस्त सृष्टि को उत्पन्न करते हैं। सम्राट् बनकर दस्युओं से प्रजा की रक्षा करते हैं उन्हें लूट पाट से बचाते हैं। वे ही वसंत, ग्रीष्म वर्षा, शरद्, हेमंत, और शिशिर रूप रखकर सरदी, गर्मी करते हैं प्राणियों की आयु का नाश करके काल रूप रखकर उनका संहार करते हैं। इस सम्पूर्ण संसार में वे प्रभु उसी प्रकार ओत प्रोत हैं जिस प्रकार माला की मणियों में सूत्र ओत प्रोत है। सम्पूर्ण जीव भगवान् की नाम रूपात्मिका माया से मोहित होकर कोई कहता है भगवान् नहीं हैं, कोई कहता है अद्वैत हैं, कोई विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शिवाद्वैत आदि कहकर उनका निरूपण करते हैं। भिन्न भिन्न शास्त्रों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में निरंतर निरूपण किये जाने पर भी वास्तविक रूप से किसी से भी नहीं जाने जाते। महाराज ! यह मैंने

आप से अत्यन्त संक्षेप १४ मन्वन्तरों का वृत्तान्त, मनु, म पुत्र, इन्द्र देवगण, सप्तर्षि और मन्बन्तरावतारों का नाम तथ उनके कार्यों का वर्णन किया अब आप और क्या पूछ चाहते हैं ?"

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा "भगवन ! आप इस वर्तमान मन्वन्तर का नाम वैवस्वत मन्वन्तर कहा और इ मन्वन्तर के अवतार का नाम वामन या उपेन्द्र बताया। अब यह जानना चाहता हूँ। कि इन उपेन्द्र भगवान् ने कौन विशेष कार्य किया। वामन भगवान् के चरित्रश्रवण करने मेरी बड़ी उत्कट अभिलाषा है।"

इस पर भगवान् शुक ने कहा "राजन् ! इन वा भगवान ने छलकर-कपट रूप बनाकर-बलि से तीन पग पृथि की याचना की। जब राजा बलि न दे सके तो उन्हें ब लिया।

यह सुनकर राजा अत्यंत ही आश्चर्य के साथ क लगे—"प्रभो ! आप एक से एक विचित्र और अद्भुत ब बता रहे हैं। देखिये भगवन् ! याचना वह करता जिसके पास वह वस्तु न हो। भगवान् के यहाँ किस व की कमी है। वे माँगे भी तो किस से माँगें ? वे तो स जगत् के स्वामी हैं, विश्वनाथ हैं। यह कहो कि भगव मर्यादा की रक्षा के लिये माँग ली होगी। तो फिर तीन ही पृथिवी क्यों माँगी। तीन पग पृथिवी को भी इतने बड़े वर्ती महाराज बलि क्यों नहीं दे सके। मानलो, किसी क से न दी गई हो तो उसने कुछ ऋण तो खाया नहीं भगवान् ने उसे बाँधा क्यो ? ऐसा काम तो कृपण कंजूस

करते हैं, कि किसी पर अपना ऋण है वह देने में समर्थ नहीं तो राजद्वार से उसके घर को बिकवा देते हैं, उसे कारावास भिजवा देते हैं। भगवान् को तो ऐसी बात शोभा देती नहीं फिर भीख तो वह माँगें जिसे अपनी किसी कामना की पूर्ति करनी हो। भगवान् विश्वेश्वर तो पूर्णकाम हैं, निरीह और निस्पृह हैं। उनकी भूमि और धन के लिये किसी से याचना उचित नहीं जान पड़ती। इस विषय में हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है। प्रभो। इस सम्पूर्ण चरित्र को सुनाकर मेरी समस्त शंकाओं का समाधान कीजिये। मेरी उत्सुकता को दूर कीजिये।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियो! जब अभिमन्यु सुत उत्तरानन्दवर्धन महाराज परीक्षित् ने इस प्रकार के प्रश्न किये, तब उनका उत्तर देते हुए भगवान् शुक वामन चरित्र सुनाने के लिये उद्यत हुए।

छप्पय

सिद्ध रूप धर करैं ज्ञान उपदेश निरंतर।
कर्मकांड विस्तार करैं जग महँ ह्वै ऋषिवर।
योगेश्वर को रूप बनावैं ज्ञान सिखावैं।
यों सब कूँ दं ज्ञान जगत् तैं अभय बनावें।
हरि माया अति प्रबल हैं, वरनन को नर करि सकै।
हरि बिनु या अज्ञान कूँ दूसर नर नहिँ हरि सकै

महाराज बलि का पुनः स्वर्ग के लिये प्रयत्न

(५४८)

पराजितश्री रसुभिश्च हापितो-
हीन्द्रेण राजन् भृगुभिः स जीवि
सर्वात्मना तानभजद् भृगून्बलिः
शिष्यो महात्मार्थ निवेदनेन
(श्री भा० ८ स्क १५ अ० ३.श्लो.

छप्पय

कहँ परीक्षित देव ! बने ज्यौं वामन श्रीहरि।
लघु बनि भिक्षा करी बढ़े च्यों पुनि प्रभु छल करि॥
बोले शुक सुनु भूप पराजित दैत्य भये जब।
अस्ताचल लै जाय जिवाये शुक्र असुर सब॥
गुरु सेवाई अभ्युदय, की कारन बलि जानि कैं।
शुक्रहिं सौंप्यो राज्य तनु, इष्ट देव सम मानि कैं॥
जिन्होंने अपने आप को गुरु चरणों में समर्पित कर दिया

श्री शुकदेव जी राजापरीक्षित् से कह रहे हैं—राजन् देवासुर सं में जब देवेन्द्र द्वारा श्रीहीन हुये महाराज बलि प्राणहीन हो और शुक्राचार्य ने फिर उन्हें जिला दिया, तो महात्मा बलि, गुरु शुक्राचार्य को सर्वात्मभाव से अपना सर्वस्व समर्पित करके प्रकार से उन्हीं कीं सेवा सुश्रुषा करने लगे।

है, उनके सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। संसार में सभी कार्य पुरुषार्थ से होते हैं। उद्योगी अपने उद्योग से भारी से भारी संकट आने पर भी विचलित नहीं होता। कार्य करने में विघ्न तो होते ही हैं किंतु मनस्वी उन विघ्नों को तुच्छ समझकर सर्वथा उनकी अवहेलना करते रहते हैं। एक तो पुरुषार्थ अहंकार पूर्ण होता है, उसकी सिद्धि में तो सन्देह ही रहता है क्योंकि प्राणी अपूर्ण है, किंतु जो पुरुषार्थ श्रद्धा सहित—गुरुजनों की सेवा सुश्रूषा करते हुये किया जाता है वह कभी असफल नहीं होता। उसकी सिद्धि में तो कभी किसी प्रकार का संदेह नहीं। उसमें सफलता होना तो ध्रुव है।

श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे—"राजन् मुझ से भगवान् वामन के अवतार का कारण पूछा, उसे मैं आप को सुनाता हूँ। हां, तो समुद्र में से निकले अमृत को जब मोहिनी रूप भगवान् ने देवताओं को ही पिला दिया तब घनघोर देवासुर सग्राम हुआ। भगवान् की कृपा से उस युद्ध में असुरों की पराजय हुई, विजयश्री ने सुरों को वरण कर लिया। असुरों के राजा विरोचन पुत्र बलि उस युद्ध में मृत प्राय हो गये थे, और भी वहुत से असुर मर गये थे। दूसरे असुर उन सब को उठाकर अस्ताचल पर्वत पर ले गये। वहाँ शुक्राचार्य ने उन सब को अपनी मृत संजीवनी विद्या से जिला दिया। महाराज बलि तो शुक्राचार्य के स्पर्श करते ही जीवित हो गये। श्री हीन और प्राण विहीन बलि को भृगुनंदन शुक्राचार्य ने जीवन दान दिया।

महाराज बलि बड़े धर्मात्मा और कृतज्ञ थे। उन्होंने सोचा

—"देखो, गुरुदेव ने हमारे ऊपर कितनी बड़ी कृपा की है। तो मर ही गये थे, गुरुदेव ने ही हमें जीवन दान दिया है। अब हम जो भी कुछ उन्नति कर सकेंगे, गुरु कृपा से ही को प्राणियों के अभ्युदय का मुख्य कारण गुरु सेवा ही है, जो से करते हैं वे मेवा पाते हैं। जो गुरु का पूजन करते हैं, वे संस में सर्वत्र पूजित होते हैं। जो गुरु को सर्वस्व समर्पण क देते हैं, उन्हें सर्वस्व की प्राप्ति होती है।" यह सोचकर तनसे, मनसे, धनसे, सभी प्रकार से शुक्राचार्य की से करने लगे। उन्होंने अपना सर्वस्व गुरु चरणों में अ कर दिया। शुक्राचार्य जो कहते उसे ही वे करते। उनके सु की सुविधाओं को सदा ध्यान रखते, जिस वस्तु की आव कता होती उसे तत्क्षण कहीं न कहीं से मँगाते। उ जितनी सामग्री की आवश्यकता होती उससे दशगुनी भे इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन का ध्येय गुरु सुश्रूषा ही ब लिया।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! सेवा एक ऐसी वस्तु कि वह मनुष्य को वश में कर ही लेती है। पाषाण हृदय भी उसका प्रभाव पड़ता है, फिर सहृदय साधु पुरुष तो द्वारा अनुचित कार्य करने को भी विवश हो जाते हैं। सेव वे इतने दब जाते हैं, कि कृतज्ञतावश उसके अभ्युदय लिये सब कुछ करने को तत्पर हो जाते हैं। दुर्योधन क्रूर स्वभाव का था, किन्तु उसने गुरु द्रोणाचार्य की और शल्य की ऐसी सेवा की कि वे अपने प्राणों से पांडवों के विरुद्ध भी अस्त्र शस्त्र लेकर युद्ध के लिये रणाङ्ग आ गये और सहज स्नेह तथा प्राणों का मोह त्यागकर मरे। दुर्वासा जैसे क्रोधी मुनि दुर्योधन की सेवा से

होकर पांडवों के सर्वनाश के लिये उतारू हो गये। शिवजी सेवा के कारण वाणासुर के पुररक्षक बने। जिसकी हम सेवा करते हैं, उसका हृदय सदा हमारी मङ्गल कामना के लिए व्यग्र बना रहता है। सती स्त्री सत्पति को सेवा के द्वारा ही वश में कर लेती है। और की तो बात ही क्या, स्वयं भग-- वान् भी सेवक के अधीन हो जाते हैं। जब उनके भक्त महाराज अम्बरीष पर दुर्वासा ने कृत्या छोड़ी और सुदर्शन उसे नष्ट करके दुर्वासा के पीछे भागे और वे सब लोकों में शरण न पाकर भगवान् के समीप गये। तब भगवान् ने स्पष्ट कह दिया— "मैं तो भक्तों के अधीन हूँ, भक्त मुझे जैसा नचाते हैं, नाचता हूँ, जो कराना चाहते हैं, करता हूँ। मैं स्वतन्त्र नहीं, भक्तों के संकेत पर नाचने वाला हूँ। इसीलिए तो सेवा से बढ़कर वश में करने का कोई दूसरा उपाय नहीं।

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! सब महाराज बलि इस प्रकार शुक्राचार्य की तथा अन्यान्य ब्राह्मणों की सेवा करने लगे। तब शुक्राचार्य ने सभी ब्राह्मणों से सम्मति की। सबको बुलाकर उन्होंने पूछा—"ब्राह्मणों आप सब देख ही रहे हैं, ये विरोचननन्दन महाराज बलि अपना सर्वस्व समर्पित करके ब्राह्मणों की किस तरह सेवा कर रहे हैं, हम लोगों को ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे इनका कल्याण हो, अभ्युदय हो। इन्हें पुनः राज्यश्री वरण करें। ये पुनः तीनों लोक के स्वामी होंगे।"

ब्राह्मणों ने कहा—"प्रभो ! हम महाराज बलि की सेवा से अत्यन्त ही संतुष्ट हैं, हमारे लिये जो आज्ञा हो उसे हम प्राणपन से करने को उद्यत हैं।"

इसपर शुक्राचार्य ने कहा—"मेरी हार्दिक इच्छा है, कि मैं अपने शिष्य को विधिपूर्वक विश्वजित् नाम का यज्ञ कराऊँ। यदि यह यज्ञ विधि पूर्वक सम्पन्न हो गया, तो इन्हें निश्चय ही पुनः तीनों लोकों का राज्य ऐश्वर्य प्राप्त हो जायगा।

ब्राह्मणों ने उत्साह के साथ कहा—"भगवन्! हम सब कुछ करने को तत्पर हैं। अवश्य ही आप असुरेन्द्र को विश्वजित् यज्ञ के लिये अभिषिक्त कीजिये।"

ब्राह्मणों की अनुमति पाकर शुक्राचार्य ने विधि विधान पूर्वक महाराज बलि को भृगुवंशी ब्राह्मणों के सहित स्वर्ग की कामना से ऐन्द्र महाभिषेक से अभिषिक्त किया। पुनः वैदिक विधि से विश्वजित् महायज्ञ का अनुष्ठान कराया। देवता तो मंत्राधीन ही होते हैं। महाराज बलि के द्वारा शुद्ध पवित्र न्यायोपार्जित हवन आदि सामग्रियों द्वारा पूजित अग्निदेव उन पर प्रसन्न हुए। यज्ञ कुण्ड से मूर्तिमान् अग्नि ने उत्पन्न होकर राजा बलि को दर्शन दिये। अग्नि ने सुवर्ण मन्डित एक दिव्य रथ जिसमें मनोवेग के समान दौड़ने वाले हरित वर्ण के घोड़े जुते हुए थे जिसमें सिंह के चिन्ह से चिन्हित दृढ़ ध्वजा लगी थी। ऐसा रथ महाराज बलि को प्रसन्न होकर प्रदान किया। साथ ही सुवर्ण जटित दिव्य धनुष जिनके बाण कभी चुकते ही नहीं थे ऐसे दो अक्षय तूणीर और कभी न टूटने वाला दिव्य कवच ये युद्धोपयोगी विजयदायिनी वस्तु भी दैत्येन्द्र को दी।

महाराज बलि के पितामह प्रह्लाद जी ने पौत्र की मंगल कामना के निमित्त कभी भी न कुमिहलाने वाली दिव्य पुष्पों की

एक अति मनोहर माला दी। पितामह की दी हुई माला को पहिन कर महाराज बलि की शोभा अद्भुत हो गई वे मूर्तिमान वीररस के समान शोभित हुए। शुक्राचार्य ने प्रसन्न होकर अपने शिष्य को ऐसा अद्भुत शंख दिया जिसके बजाते ही शत्रुओं के छक्के छूट जायें, वे रणाङ्गन को त्याग कर भाग खड़े हों। इस प्रकार सभी से विजय के अनुरूप युद्धोपयोगी सामग्रियों को पाकर महाराज बलि अत्यंत प्रसन्न हुए। अब उन्होंने फिर से स्वर्ग को जीतने का संकल्प किया। प्रसन्न हुए भृगुवंशी ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन किया विजय सम्बन्धी मन्त्र पढ़े। इस प्रकार समस्त सामग्रियों से सन्नद्ध होकर तथा ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त करके महाराज बलि अपनी चतुरङ्गिणी सेना को सजाकर युद्ध के लिए तैयार हुए। उन्होंने ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा की। सबको श्रद्धा सहित प्रणाम किया। फिर अपने पितामह प्रह्लाद जी के समीप आकर उनकी चरण वन्दना की और उनसे कहा—"पितामह आप हमें आशीर्वाद दें कि हमारी विजय हो। तब प्रह्लाद जी ने आशीर्वाद देते हुए कहा—तुम्हारा पन्थ निष्क-न्टक हो तुम अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो।"

ब्राह्मणों और बड़ों की अनुमति और आशिष पाकर महाराज बलि अग्निदत्त उस सुवर्ण मण्डित रथपर बैठ गये। दिव्य कवच उन्होंने पहिन लिया। धनुष को धारण करके पृष्ट भाग में दोनों अक्षय तूणीरों को लटका लिया। युद्धोपयोगी खड्ग तरकस आदि अस्त्र शस्त्रों को धारण करके वे विश्वविजयी वीर अभी से प्रतीत होते थे। उनकी बाहुओं में सोने के बाजू बन्द शोभित हो रहे थे। कानों में मकराकृत कुन्डल झल मल झलमल करते हुए चमक कर कपोलों की श्री बृद्धि कर रहे थे। जिस समय वे वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर दिव्य रथ में बैठे

उस समय ऐसे प्रतीत होते थे मानों पृथ्वी पर सूर्य उदित हुए हैं अथवा हवन कुन्ड में मूर्तिमान अग्नि प्रज्वलित हो रहे हों। श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार राजा बलि सुसज्जित होकर स्वर्ग को पुनः विजय करने के निमित्त सेना सहित चले।

छप्पय

सेवा तैं सन्तुष्ट शुक्र इक यज्ञ रचायो।
नाम विश्वजित विदित वेदविद विप्र करायो॥
पूजित ह्वै के अग्नि दिव्य सुन्दर रथ दीन्हों।
द्वै अक्षय तूणीर कवच धनु अर्पण कीन्हों॥
दीन्हीं माला पितामह दिव्य शंख गुरु ने दयो।
यों रन को सामान सब, एकत्रित बलि पै भयो॥



त्रयिष्णु स्वर्ग पर बलि की चढ़ाई

तां देवधानीं स वरूथिनीपतिः,
बहिः समन्तादुरुरुधे पृतन्यया ।
आचार्यदत्त जलजं महास्वनम्,
दध्मौ प्रयुञ्जन्भयमिन्द्रयोषिताम् ।

(श्री भा० ८ स्क० ८ १ ५ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

सजि सेना सुर विजय हेतु नृपवर चलि दीन्हें ।
सुरपुर घेरयो हृदय रिपुनि के कंपित कीन्हें ।
सुर समृद्धि अति रम्य हृदय इन्द्रिनि सुखदाई ।
बन उपवन वर वृक्ष चहूँ दिशि शोभा छाई ।।
झुकि झूमैं चूमैं अवनि, सुर तरु फल दल सुमन युत ।
मधुकर खग कलरव करहिं,सुर ललना झूमत फिरत ।।

जीव के सब प्रयत्न सुख के ही निमित्त हैं। सुख के ही लिये सामग्रियों को एकत्रित करता है। युद्ध करता है, सुखद वस्तुओं को दूसरों से छीन कर अपने पास रखता है, किन्तु

+श्रीशुक देव जी कहते हैं—"राजन् ! उस इन्द्र की अमरावती पुरी को असुर सेना नायक महाराज बलि ने बहार चारों ओर से सेना से घेर लिया। शुक्राचार्य जी ने जो महान् शब्द करने वाला शङ्ख दिया था उसे इन्द्र की स्त्रियों को भयभीय करते हुए बजाया।

इन अनित्य क्षयिष्णु नश्वर वस्तुओं में सुख कहाँ, संतोष कहाँ बार बार उन्हें प्राप्त करता है, सुख के स्थान में दुख उठाता फिर भी उनके लोभ को छोड़ नहीं सकता। इसी का नाम भ वान् की माया है। माया मोहित जीव इन अनित्य भोगों लिये हिंसा करता है, ईर्ष्या करता है। फिर भी ये लोग स साथ नहीं रहते। क्षणभर में उसी प्रकार कुम्हिला जाते अपने से पृथक हो जाते है, जैसे निशा के अवसान में नाि के कंठ की माला कुम्हिला जाती है शरीर से पृथक् हो जा है। इसीलिये ज्ञानी पुरुष इन लौकिक पारलौकिक भोगों स्पृहा नहीं रखते। वे इन का उपभोग करते हुए भी इनसे उदा बने रहते है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन्! महाराज बलि अ चतुरङ्गिणी महती असुर सेना को साथ लेकर पृथ्वी आकाश मन्डल को कंपायमान करते हुए स्वर्ग के ऊपर गये! सेना के सभी सैनिक अपनी लम्बी जिह्वा से बार ओठों को चाट रहे थे। मानों वे, विश्व ब्रह्माण्ड को पी के लिये लालायित हैं। वे अपनी लाल लाल आंखों को नि निकाल कर नाक लोक को निहार रहे थे, मानों दशों दिश को दग्ध करने के लिये दुराग्रह कर रहे हों। वे सब के अतुल ऐश्वर्य के आवेग में अपने को अद्वितीय मानते थे। अपने को बलि के सदृश ही बली माने हुए थे। असुर साम्र के विभूति के मद में मदोन्मत दैत्य यूथपति अपने प्रभाव से अपने आपको अजेय समझ रहे थे। वे इन्द्र का, इन्द्र के अमरावती पुरी का तिरस्कार करके उसके ऊपर गये और चारों ओर से उसे घेर लिया। क्रोध से लाल लाल किये हुए असुरों से घिरी हुई वह दिव्य स्वर्ग की पुरी

कोशों से घिरी कर्णिका के समान प्रतीत होती थी। उसके चारों ओर नन्दन आदि दिव्य कानन थे। जिनमें कल्पवृक्ष अपनी शोभा बखेर रहे थे, जिन पर योजनों सुगन्धि वाले दिव्य पुष्प खिल रहे थे। जिन पर मधुलोलुपमत्त मधुप मँडरा कर मधु मकरन्द का पान करते हुए पंखों में पराग लगने से पीले से प्रतीत होते थे। कलरव करते हुए विहंग वृन्द इधर से उधर वृक्षों की नमित शाखाओं पर फुदक रहे थे। अपनी प्रियाओं के साथ किल्लोलें कर रहे थे। किन्हीं किन्हीं वृक्षों पर सुन्दर गोल गोल विवध वर्ण के पके कच्चे फल लगे हुए थे। नवीन चिकनी पल्लवों में वे फल ऐसे प्रतीत होते थे, मानों लाल मखमल का विछौना विछाकर सो रहे हों किसी पर छोटे बड़े पुष्पों के गुच्छे लहक रहे थे, वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानों यौवन वृक्षों के अंगों से फूट कर निकल रहा हो। वायु के वेग से जब वे हिलते थे तो वे हिलाने वाली वायु को बहुत सी सुरभि दे देते थे। इतनी अधिक सुरभि को लेकर वायु चलने में असमर्थ हो जाती और दौड़ती हुई मार्ग में उसे विखेरती जाती थी। उन पुष्पों पर भ्रमर उसी प्रकार मँडरा रहे थे, जैसे दाता के चारों ओर याचक मड़राते रहते हैं।

स्वर्ग के उस उत्तम शोभायुक्त उपवन में स्वच्छ सलिल वाले बहुत से सरोवर थे। जिनका जल पद्मों की पराग से सुगन्धित हो गया था और जो कमलों की वेल से ढके हुए से प्रतीत होते थे। उनके किनारे किनारे हंस सारस, चकवा, चकवी, कारण्डव जलकुक्कट, वक तथा अन्यान्य जल जन्तु इधर से उधर चोंच घुमाते हुए घूम रहे थे। बड़े बड़े सरों में सुर सुन्दरियाँ अपनी सखी सहेलियों के साथ कमिनीय क्रीड़ायें कर

रहीं थीं। उनके अंग में लगे दिव्य अंगराज की गन्ध से सुवासि
जल और भी अधिक सुगन्धित बन रहा था।

इन्द्र कीअमरावती का परकोटा जाम्बूनद सुवर्ण से बना हुआ था। आकाश गंगा उसे चारों ओर से घेरे हुए थी। मानों वह उस किले की परीखा है। पर कोटे से अत्यन्त ऊँचे सतख विमानों की अट्टालिकाओं पर लगी पताकायें हिल रही थीं मानों असुरों को पुनः इन्द्रासन के लिये आमन्त्रित कर रही हों उस देवपुरी के द्वार स्फटिक मणि के ऊँचे कंगूरों से शोभा मान थे। उनमें बड़ी बड़ो सुवर्ण मन्डित किवाड़ें लगी थीं। जिनमें बज्र के सदृश बड़े बड़े ताले लगे हुए थे। पुरी वाहर जाने को जितने द्वार थे उन पर बड़े बड़े विस्तृत रा पथ थे। जिनके दोनों ओर सघन वृक्ष लगे थे जो परस्पर सटे हुए थे। जिनके कारण पथ सदा शीतल बना रहता था बड़े वड़े पथों से कहीं कहीं छोटे पथ भी जाते थे। वे भी सुन्द और रम्य थे। दो सड़कों के मिलने से जो चौराये बन जा उनमें छोटे छोटे उद्यान लगे हुए थे, आस पास सभा वन औ आमोद प्रमोद गृह थे।

जिस इन्द्र पुरी में असंख्यों विमान मंडरा रहे थे कुछ रखे थे कुछ आकाश में उड़ रहे थे। उन में निरन्त गायन वाद्य और नृत्य की सुमधुर ध्वनि हो रही थीं। बनों उपवनों, में विमानों में, सरों में, घरों में, महलों में तथा सर्वत्र अमिट सौन्दर्य से युक्त नित्य ही नव यौवन के मद से मद मा रूपवती श्यामा रमणियाँ सुन्दर स्वच्छ वस्त्रालंकारों से भूषि स्वच्छन्द विहार करती रहती थीं। वे देदीप्यमान अग्नि शि के समान, साकार शोभा के समान, सजीव सुन्दरता के सम

अम्लान चंपाकलिका के समान तथा यौवन कान्ता के समान प्रतीत होती थी ।

वहाँ का वायु भी ऐसा रसिक है कि सुर सम्मानिता सुराङ्गनाओं के अंचल को उघारकर उनके केशपाश में गुंथी सुगन्धित पुष्पों की नवीन माला के मनोहर आमोद को चुरा कर मार्ग में उसी के साथ खिलवाड़ करता हुआ चलता हैं। उसकी इस अशिष्टता पर न कोई टीका करता है न टिप्पणी, सभी सुरसुन्दरियाँ उसकी उपेक्षा कर देती हैं और क्रीड़ा का भान प्रदर्शित करती हुई पुनः अपने पुष्पों से गुंथे केशपाशों को छिपा लेती हैं ।

उस पुरी को सौगंधिक पुरी कह दें तो अत्युक्ति न होगी। क्योंकि वहाँ की सब वस्तु सुगंधित हैं। पारिजात के पुष्प योजनों गन्ध फैलाते हैं। सुर ललनाओं के मुखों से अंगों से केशपाशों से, तथा उनके वस्त्राभूषणों से निरंतर सुगंधि निकलती रहती है। राज पथों पर सुगंधित जलों का ही छिड़काव होता है। भवनों से जो सुगन्धित धूप का धूम्र निकलता है, वह प्रकाश में उड़ता हुआ स्वर्गीय पारावत के समान प्रतीत होता है। सभी विमानों के वितान मुक्ता दाम मन्डित शुभ्र और स्वच्छ हैं, उनमें लगी ध्वजायें सुवर्ण जड़ित तथा मणि मुक्ताओं से मन्डित है। रंग विरंगी चित्र विचित्र ध्वजाओं से वह पुरी नव विवाहिता वधू के समान सजी प्रतीत होती है

उस अमरपुरी के भवनों और विमानों के छज्जों पर बैठे मयूर, कपोत, तथा अन्यान्य पक्षी कलरव कर रहे हैं। स्थान-स्थान पर खिले कुसुमों को रिझाने के लिये भ्रमर गण गीत से गा रहें हैं। अप्सराओं के कड़े छड़े नूपुर और करधनियों

की क्षुद्रघंटिकाओं के शब्द से तथा उनके कलकन्ठों से कूजित और मूर्छना सहित गायनों से और मृदङ्ग, शंख, पखावज तथा दुन्दुभियों के घोष से वह बात करती दिखाई देती है। जो अपनी प्रजा से दर्शकों को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। जिममें पापी प्रवेश नहीं कर सकते। अधर्मी भूतद्रोही मानी कामी और लोभी पुरुषों का जिसमें प्रवेश भी असम्भव है अब उसी पुरी को असुरों ने गुरु कृपा से घेर लिया।

वलि ने गुरु अनुग्रह से दैत्री शक्ति प्राप्त करली थीं। इन्द्र-पुरी को घेरकर जब उन्होंने शुक्रदत्त शंख को पूरी शक्ति से बजाया तो देवताओं के छक्के छुट गये, अप्सरायें मूर्छित होकर गिर गईं। इन्द्र तो बड़े ही भयभीत हो गये। क्षण भर पहिले जिस पुरी में सर्वत्र आमोद प्रमोद हो रहा था, अब सर्वत्र हाहाकार मच गया। सभी असुरों के उद्योग को देखकर भयभीत हो गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्। इन क्षयिष्णु अनित्य स्वर्गीय सुखों में शान्ति नहीं सुख नहीं। त्रिलोकेश इन्द्र बलि के शंख ध्वनि सुनकर अत्यंत हीं घबरा गये और देवताओं के साथलिये हुहू अपने कुल गुरु भगवान् बृहस्पति के समीप गये।

छप्पय

श्याम सुभगा सदा सुहागिनि विहरैं बाला।
केशपाश महँ ग्रथित दिव्य सुमननिकी माला॥
तिन तैं लै आमोद अनिल भग सुरभि बखेरै।
बनि परिखा नभगंग अमर नगरी कूँ घेरै॥
नहिँ प्रवेश पापी करहिं पुण्य प्राप्त जहँ भोग सब।
गुरु आशिषतैं सुरपुरी, घेरी असुरनि आइ अब॥

देव गुरु की सम्मति से सुरों का स्वर्ग त्याग।

(५५०)

एवं सुमन्त्रितार्थास्ते गुरुणार्थानुदर्शिना ।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्गीर्वाणाः कामरूपिणः ॥

(श्री भा० ८ स्क० १५ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

सुरपति गुरु ढिग जाइ कहें गुरु असुर बढ़े कस ।
ओज तेज उत्साह बढ्यौ कस असुरनि बल अस ॥
बोले सुरगुरु करी कृपा गुरु ने असुरनि पै ।
हारैं हरिबिनु नहीं अबहिँ ये स्वर्ग अवनि पै ॥
तातैं तजि के स्वर्ग कूँ, करो प्रतीक्षा काल की ।
मेटि सकै नहिँ कबहुँ नर, लिखी रेख जो भाल की ॥

उन्नति के साथ अवनति, जय के साथ पराजय, जन्म के साथ मृत्यु, और उत्थान के साथ पतन ये लगे ही रहते हैं।

श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—राजन् ! इस प्रकार जब स्वार्थ के मर्म को भली भाँति जानने वाले देवगुरु वृहस्पति ने उन्हें सम्मति दी तो उसे मान कर देवता गण स्वर्ग को छोड़कर चले गये । वे सब इच्छानुसार रूप बनाने वाले थे ।

अज्ञानी इन्हीं के दुःख में संतप्त होकर दुखी होते हैं। ज्ञानी दोनों में सम रहते हैं। वे भगवन् सेवा समझ कर कर्तव्य बुद्धि से कार्यों को करते हैं। जय हो पराजय हो दोनों में ही हरि इच्छा का अनुभव करते हैं। वास्तव में तो इन क्षण भंगुर नाशवान पदार्थों में क्या जय क्या पराजय ! गंगाद्वार में गंगा के गर्भ में पड़े असंख्यों छोटे, मोटे गाले, लम्बे, चिकने खुरहरे पाषाण खंडो से छोटे छोटे बच्चे खेलते हैं। कुछ गंगा के प्रवाह के साथ बहकर आये पाषाण खंडों को कुछ बच्चे अपने बताते है, कुछ इसी को लेकर वे लड़ते हैं। रोते हैं, दुखी होते हैं, मार पीट करते हैं। वाच्य कुवाच्य कहते हैं किन्तु जहां खेल समाप्त हुआ, बच्चे खाली हाथ अपने अपने घरों को चले जाते हैं पाषाण खंड वहां के वही पड़े रहते हैं। दूसरे दिन बालकों की फिर वही क्रीड़ा फिर वही मैं तू तेरा का झगड़ा। जहां वर्षा आयी वे सबके सब गंगा के जल में बह जाते हैं बच्चे अब गंगा गर्भ में न जाकर घर खेलते हैं वर्षा के पश्चात् जहाँ शरद ऋतु आई, जल हटने से जहाँ फिर पाषाण चमकने लगे, तहां फिर खेल आरम्भ हो गया। बच्चा खेलते खेलते बड़ा हो जाता है तो उसका बच्चा खेलता है, वह भी बड़ा हो जाता है तो उसका बच्चा खेलता है। न तो उन पाषाण खंडों का ही अंत होता है न खेल का ही यह प्रवाह अनादि से चल रहा है अनन्त काल तक चलता रहेगा। जो बड़े होते हैं, वे इससे निवृत्त हो जाते हैं, छोटे उसमें लगते जाते हैं। इसी का नाम भगवान् की माया है। वे भगवान काल रूप से व्याप्त हैं। जिस समय जिसका जैसा काल होता है, उस समय उसका वैसाही बानिक बन जाता है, इसमें न किसी का बल काम देता है, न पौरुष। सब प्रभु की इच्छा से ही हो रहा है

श्री शुक देव जी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन् ! जब असुरों ने चारों ओर से इन्द्र की अमरावती पुरी को घेर लिया और महान् कोलाहल किया, तब उनके उत्साह वर्धक शब्दों को सुनकर इन्द्र को बड़ा भय हुआ। वे अपने मुख्य मुख्य देवताओं को साथ लेकर देवगुरु वृहस्पति के समीप गये। वहाँ जाकर उन सबने विधिवत गुरु के चरणों में प्रणाम की और उनकी आज्ञा से आसनों पर बैठ गये। तब देवगुरु वृहस्पति ने पूछा—"कहिये, देवराज ! आज आपका मुख मलीन कैसे हो रहा है, किस गहरी चिन्ता से आप चिन्तित हैं ?

यह सुन कर विनीत भाव से इन्द्र बोले—"प्रभो ! क्या आप सुन नहीं रहे हैं, पुरी के चारों ओर चतुरङ्गिणी सेना सहित रणरङ्ग दुर्मद असुर कोलाहल कर रहे हैं ? उनके स्वर में उत्साह है, जय घोष में विजय का निश्चय है।

वृहस्पति जी ने कहा—"हाँ, सुन तो मैं भी रहा हूँ, तुम्हारे पूर्वशत्रु बलि ने फिर से तुम्हारे ऊपर चढ़ाई कर दी है।"

इन्द्र ने कहा—"चढ़ाई कर देना तो कोई बात नहीं। शत्रु का काम ही है, अपने पूर्व शत्रु को सदा पराजित करने का प्रयत्न करते रहना, किन्तु मैं जानना यह चाहता हूँ, कि अब की बार इन असुरों में इतना उत्साह कैसे आ गया। इनका ऐसा असह्य तेज किस कारण से हुआ। कौन सी सिद्धि प्राप्त करके ये इतने बली तथा प्रतापी बन गये ? बलि से तो हम पहिले भी लड़े हैं। अभी अभी अमृत बाँटने के समय मैंने अपने बज्र से बलि को मार ही डाला था, किन्तु शुक्रचार्य की कृपा से वह फिर जीवत हो गया, कभी भी मैंने उसमें ऐसा उत्साह इतनी

युद्धोत्सुकता नहीं देखी। आज तो यह प्रलयाग्नि के समान सामवंतरु मेघों के समान, रुद्र के तीसरे नेत्र के समान सम्पूर्ण संसार को मानों संहार ही कर डालेगा।

आज यह अपनी लपलपाती जिह्वा से ऐसा ही प्रतीत होता है, मानों यह जगत् को उसी प्रकार चाट जायगा जैसा दीमक पृथिवी पर पड़े कागज को चाट जाती है। दूर से ही बलि की क्रोध से लाल लाल हुई आँखों को मैंने ऊपर चढ़कर देखा था उनमें से ऐसा दुस्सह दुर्धर्ष तेज निकल रहा था, मानों दसों दिशाओं को दग्ध करके असमय में प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देगा। प्रभो! बलि को इतनी शक्ति कैसे प्राप्त हुई? वह ऐसा निर्भय क्यों हो गया? उसे किस साधन से ऐसा ओज बल और साहस मिल गया? आज इसके पुरुषार्थ में शक्ति है उद्यम में उत्साह है, कार्य में सजीवता है और रोम रोम में विजय प्राप्त होने की दृढ़ता है।

इन्द्र के ऐसे बचन सुनकर वृहस्पति जी गंभीर हो गये। कुछ काल तक वे मौन रहे। फिर कुछ सोचकर शनैः शनैः कहने लगे—"हे रतिपति? बलि की उन्नति का कारण मैं जानता हूँ, यद्यपि तुम इसे किसी भी प्रकार परास्त नहीं कर सकते!"

इन्द्र ने आश्चर्य्य और निराशा के स्वर में उत्सुकता पूर्वक पूछा—"क्यों, क्यों, आज मैं इसे परास्त क्यों नहीं कर सकता यह निश्चय विजयी ही होगा, इसका क्या कारण है?

देवगुरु ने उसी गम्भीरता के साथ कहा—"इस समय यह ब्रह्मतेज से समृद्ध और परम पराक्रमी भी हो रहा है। इसके गुरु शुक्राचार्य ने अपने सजातीय ब्राह्मणों के सहित इसके लिये महान् तेज सम्पादन किया है। शिष्य वत्सल भार्गव ने अपने

सम्पूर्ण मनोबल से इसकी विजय के लिये विश्वजित् यज्ञ किया है। इसी कारण यह अब अपराजित बन चुका है।"

इन्द्र ने पूछा—"तब भगवन्! इसे अब कोई भी नहीं जीत सकता?"

बृहस्पति बोले——"हाँ, इस समय तो ऐसी ही बात है। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, सर्व समर्थ हैं, वे तो जो चाहें सो कर सकते हैं। उनके लिये तो असम्भव कोई वस्तु ही नहीं। उन श्रीहरि को छोड़कर कोई भी आज इससे टक्कर नहीं ले सकता। जैसे काल के सम्मुख कोई नहीं बच सकता।"

इस पर इन्द्र बोले—"तब फिर भगवन्! हम क्या करें? शक्ति भर युद्ध तो करें ही। बृहस्पति जी ने कहा—"भैया! मेरी सम्मति तो यह है कि इस समय जानबूझ कर काल के मुख में कूदना उचित नहीं। अब इससे युद्ध करना व्यर्थ है। अब तो यही उचित जान पड़ता है, कि तुम लोग स्वर्ग छोड़कर चुपके से चले जाओ। समयानुसार खेत को छोड़कर भाग जाना अनुचित नहीं। आज इनकी बृद्धि का काल है। संसार में पुरुष बली नहीं होता है। काल ही बली कहलाता है। अब इन्हें सुख भोगने दो तुम अपने अभ्युदय काल की प्रतीक्षा करते हुए पृथ्वी पर जैसे तैसे दिन काटो।

इन्द्र ने कहा—"तो फिर भगवन्! क्या हम सदा स्वर्ग सुख से वञ्चित ही रहेंगे?"

अपनी बात पर बल देते हुए बृहस्पति ने कहा—संसार में किसी की भी सदा एक सी स्थिति नहीं रहती। जैसे रथ का पहिया ऊपर नीचे होता रहता है, उसी प्रकार यह उन्नति अव-

नति का चक्र निरन्तर घूमता रहता है। आज इनके अभ्युद
का समय है, कभी तुम्हारा भी समय आवेगा। तब इन
अध:पतन होगा।

इन्द्र ने कहा—"इनका अध: पतन कब होगा भगवन् !"

वृहस्पति जी ने कहा—जब यह लोग ऐश्वर्य के मद
मन्दोन्मत्त होकर फिर अपने इन्हीं गुरु का अपमान करेंगे, इ
तुच्छ समझ कर अपने आप को ही कर्ता धर्ता मानने ले
तब ये अपने परिवार और कुटुम्ब के सहित पुन: पाताल के बि
में घुस जायेंगे। इस समय इनसे छेड़ छाड़ उचित नहीं !"

श्रीशुकदेव जी कह रहे हैं—"राजन् ? इन्द्र बड़े बुद्धिम
थे। उन्होंने अपने गुरु की सम्मति सहर्ष स्वीकार कर ली।
जानते थे, गुरु सदा हमारे हित की ही बात कहेंगे, बली शत्रु
सहसा युद्ध छेड़ देना उचित नहीं. नीति से काम लेनौं चाहि
इसोलिये उन्होंने देवताओं को युद्ध करने की सम्मति नहीं दी
सभी से कह दिया, आप लोग वेष बदल कर अभ्युदय काल
प्रतीक्षा करो।"

देवेन्द्र की आज्ञा पाकर सभी देवता इच्छानुसार रूप
कर स्वर्ग को छोड़कर चले गये। इन्द्रपुरी खाली हो ग
असुरेन्द्र महाराज बलि ने उस सूनी पुरी पर अपना अधि
जमा लिया। असुरों का झंडा उसके ऊपर फहरा दिया।
अब वे तीनों लोकों के अधीश्वर हो गये। इन्द्रासन पर बैठ
वे त्रिलोकी का शासन करने लगे।

शुक्राचार्य को अपने शिष्य के इस अभ्युदय पर
प्रसन्नता हुई। इन्द्रासन पर बलि को बैठा देखकर उनके रोम
खिल उठे। उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए बलि से कह

"वत्स। आज मैं तुम्हें त्रिलोकेश के पद पर प्रतिष्ठित हुआ देखकर परम प्रसन्न हूं। मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ।"

महाराज बलि ने कहा—"गुरुदेव! यह सब आपके चरणों का प्रताप है।

शुक्राचार्य बोले—"वत्स! मैं चाहता हूँ यह इन्द्रपद तुम्हारे लिये स्थायी हो जाय।

बलि बोले—"जिन पर गुरुदेव का अनुग्रह है, उनके लिये संसार में असम्भव बात कुछ भी नहीं है। आप सब कुछ करने में समर्थ हैं।"

शुक्राचार्य बोले—"यही तो मैं चाहता हूं इन्द्र के कुछ पंख तो होते नहीं। जो १०० अश्वमेध यज्ञ कर ले वही इन्द्र हो जाता है। अब तो इन्द्रासन तुमने अपने बल पौरुष से प्राप्त किया है, किन्तु अभी यह अस्थायी है। मैं चाहता हूं यह स्थायी हो जाय, तुम मन्वन्तर पर्यन्त इन्द्रासन पर इसी प्रकार अवस्थित रहो।"

बलि ने कहा—"प्रभो! मेरे लिये जो आज्ञा हो वही मैं करने को तत्पर हूं।"

शुक्राचार्य बोले—"मेरी इच्छा यह है कि तुमसे १०० अश्वमेध यज्ञ कराऊँ। तुम आज ही १०० अश्वमेध यज्ञों की दीक्षा ले लो।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपने गुरु शुक्राचार्य की ऐसी आज्ञा सुनकर महाराज बलि अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने शुक्राचार्य की आज्ञा से १०० अश्वमेध यज्ञों की दीक्षा ली। शिष्य वत्सल शुक्राचार्य अपने परिवार वाले ब्राह्मणों के साथ महाराज बलि को यज्ञ कराने लगे। बलि भी बड़े उदाराशय और दानी

थे। वे भी यथेष्ट द्रव्य व्यय करके बड़े ठाट वाट से यज्ञ करने लगे। चारों ओर उनके यज्ञों की ख्याति हो गई। इच्छानुसार दान पाकर ब्राह्मण भिक्षुक उन्हें भाँति भाँति के आशीर्वाद देने लगे। तीनों लोकों में वे चन्द्रमा के समान सुशोभित हुए। दसों दिशाओं में उनकी कीर्ति फैल गई। त्रैलोक्य का ऐश्वर्य पाकर वे अपने को कृत कृत्य मानने लगे।

छप्पय

गुरु आयसु सिर धारि अमर सब छाँड़ि स्वर्ग सुख।
कामरूप धरि फिरैं अवनि पै सहैं विविध दुख ॥
सुरपुर सूनो समुझि असुर अधिकार जमायो।
बलि कूँ शुक्राचार्य इन्द्र पद पै बठायो ॥
अश्वमेध सत बलि करैं, इन्द्रासन ध्रुव होइ तब।
भृगुवंशी द्विज सोचि जिह, करवावैं मिलि यज्ञ सब ॥



पुत्रों के पराभव से अदिति को दुःख

(५५१)

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तदा।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत् ॥*
(श्री भा० ८ स्क० १३ अ० १ श्लोक)

छप्पय

अमर अवनि पै फिरें कपट तनु धरि कैं इत उत।
अदिति सुतनि दुरदशा समुझि अति दुःख भयो चित॥
आये कश्यप जबहिं लखे घर अधिक उदासी।
पत्नी तनु अति छीन मलिन जनु भूखी प्यासी॥
मुनि पूछी कुशलात जब, अदिति दुखित बोली बचन।
इन दैत्यनि तव अमर सुत, करे पदच्युत तपोधन।

इस कुतूहल पूर्ण संसार में भगवान् ने कैसी कैसी अद्भुत अद्भुत वस्तुएँ बना ली हैं। यह प्राणी नाटक, स्वांग तथा अन्यान्य खेल देखने को कैसा उत्सुक रहता है, किन्तु ध्यान से देखे तो संसार की सभी वस्तुएं सभी घटनायें एक महान्

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार जब अदिति के पुत्र स्वर्ग के ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो गये और वे स्वर्ग से अदृष्य होकर कहीं छिप गये, तो इससे देवताओं की माता अदिति अनाथों की भाँति अत्यंत दुःख करने लगीं।

कुतूहल की वस्तुयें हैं! नन्हें से वट के बीज से कितना महा वृक्ष हो जाता है, उस राई के दाने से भी छोटे बीज में इतना भारी वृक्ष कहां छिपा है, उसके टुकड़े टुकड़े कर डालिये, कहीं भी उसमें वृक्ष न मिलेगा, किन्तु सत्य वात यही है, कि उसमें वृक्ष छिपा हुआ है। रज और वीर्य रूप दो जल विन्दुओं से मिल कर इतनी भारी डील-डौल की देह कैसे बन जाती है ये सब कल्पना से बाहर की बातें हैं। और इन सब को प्राणी ध्यान से देखने लगे, तो उसे फिर बाहरी नाटक देखने कहीं अन्यत्र न जाना पड़े। वह जहां बैठा हो वहीं उसे एक से एक अद्भुत वस्तु दिखाई देने लगे।

संसार की असंख्यों अद्भुत वस्तुओं में से एक परम अद्भुत वस्तु है मातृहृदय। ब्रह्मा जी ने मातृहृदय किन धातुओं के सम्मिश्रण से बनाया है, इसे न अब तक कोई जान सका है और न संभव है आगे भी कोई जान सके। उसमें रक्त मांस आदि के अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु है जो विचित्र हैं, अपनी संतानों के लिये माता क्या करती है, उसमें अपनी सन्तानों के प्रति कितना महत्व होता है, इसका अनुभव माता बिना कोई कर ही नहीं सकता। वह अपनी सन्तानों की मङ्गल कामना के निमित्त उचित अनुचित सभी काम करने के लिये उद्यत रहती है। स्वयं खाकर मां को उतना सन्तोष नहीं होता जितना सन्तानों के खिलाने से होता है। उसके रोम रोम से सदा यही निकलता रहता है। मेरी संतानें सुखी रहें। जो राक्षसी मानवीय देह में उत्पन्न हो गई है कामवासना की पूर्ति ही जिनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य है, जो कामतृप्ति के लिये विविध उपायों से गर्भाशय को निकलवा देती हैं अथवा विकृत करा देती हैं तथा जो कामजन्य संतानों का हत्या करने में

भी नहीं हिचकती उनकी बात तो छोड़ दीजिये। नहीं तो मातायें संतानों के लिये कितनी लालायित रहती हैं, उनके पालन पोषण के लिये कितने कितने क्लेश उठाती हैं, उनके रुग्ण होने पर कितने भाँति के भूत, प्रेत, पिशाच पूजती हैं, जादू टोना टोटका करती हैं। यहाँ तक कि देवी देवताओं के सम्मुख मूक पशुओं की बलि तक चढ़ाती हैं। उस समय वे भूल जाती हैं, कि जिन प्राणियों को बलि देकर हम अपनी संतानों को सुखी करना चाहती हैं वे प्राणी भी किसी की सतानें हैं। इनके भी कोई माता है, इनकी माता भी इनकी मृत्यु पर मन से हमारी ही भाँति दुखी हो रही होगी। किन्तु उन्हें तो अपनी सन्तानों की चिन्ता है। एक कहानी है कि किसी पाठशाला में बहुत से बच्चे साथ पढ़ते थे। उसमें बड़े धनिकों, कुलीनों, विद्वानों तथा सेठ साहूकारों के भी सुन्दर से सुन्दर लड़के थे। उनमें ही एक बिधवा वृद्धा का बच्चा भी पड़ता था। गरीबी के कारण उसके वस्त्र भी सदा मलिन रहते उसकी आँखों में, नाक में शरीर, में, मैल लगा रहने से मकखियाँ भी भिनकती रहती। रंग भी उसका बुरा था। मुख पर चेचक के गड्ढ़े से थे एक आँख भी फूटी थी एक दिन अध्यापक ने उसे चार लड्डू दिये और कहा—" तुझे इन बच्चों में जो भी सबसे सुन्दर दिखाई दे, उसे ही इनको दे दे।" उस बुढ़िया ने अपने बच्चे को वे लड्डू देते हुए कहा—"मुझे तो इससे बढ़कर सुन्दर और प्यारा इन लड़कों में दूसरा दिखाई देता ही नहीं।" यह अपनापन ही मातृ हृदय की विशेषता है। सभी किसी न किसी की संतानें हैं, किन्तु मेरी सन्तान सुखी रहें। माता की हार्दिक इच्छा यही रहती हैं। अपने आपको दुखी करके भी माँ सन्तानको सुखी करना चाहती है। एक

प्राचीन कथा है। एक पुत्र के कारण दो स्त्रियों में झगड़ा हो गया वास्तव में जिसका लड़का था, वह अनाथ थी, दूसरी सो उसे नीचा दिखाना चाहती थी; उसे पुत्रहीन करना चाहती थी उसने राज दरबार में अभियोग चलाया, पुत्र मेरा है, मेरे पास रहता है। न्यायाधीश ने दोनों को बुलाया, दोनों से पूछा दोनों ही ओर से साक्षियों की साक्षी हुई। कुछ ने कहा-इसका है, दूसरे पक्ष वालों ने कहा—इसका है। न्यायाधीश कुछ निर्णय न कर सके। दूसरे दिन न्यायाधीश ने सब लोगों के सम्मुख उन दोनों स्त्रियों से कहा—तुम लोगों की बात से यह निर्णय नहीं हो सका है कि बच्चा किसका है। दोनों को ही अधिकार प्रतीत होता है। अतः हमने यह निर्णय किया है कि बच्चे के बीच से दो टुकड़े करके हम आधा आधा तुम दोनों को दिलाये देते हैं। इतना सुनते ही जो यथार्थ माँ थी वह रो कर चिल्ला उठी बच्चा—नहीं है मेरा बच्चा नहीं है। इसे फड़वाइये नहीं। इसी को दे दीजिये मैं झूठी हूँ। न्यायाधीश फड़वाया तो चाहते ही नहीं थे, उन्हें तो मातृहृदय पहिचानना था। बच्चा उसी को दे दिया गया और दूसरी को दण्ड दिया गया। कहने का सारांश इतनाही है, कि माता पुत्र की मंगल कामना के लिये सब कुछ कर सकती है।

श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन् ! जब बृहस्पति जी की आज्ञा से देवता स्वर्ग छोड़कर भाग गये और असुरेन्द्र बलि तीनों लोकों के ईश बन गये तब देवता पृथ्वी पर विविध वेश बनाकर दुःख से अपने दिन काटने लगे। जो देवता एक दिन स्वर्गीय सुख भोगते थे अब समय के विपरीत होने से साधारण प्राणियों की भाँति इधर से उधर मारे मारे फिरने लगे। इस

देवताओं को जो दुख हुआ सो हुआ ही देवताओं की माता अदिति को अत्यन्त ही दुख हुआ। उसे न भूख लगती थी न नींद ही आती थी। सदा अपने पुत्रों के पराभव से दुखित हुई अश्रु बहाती रहती थी। सन्तानों की पराजय से उसके दुख की सीमा न रही। मेरे बच्चे जो सदा सुखोपभोग के योग्य हैं, वे कहाँ पृथ्वी पर वेश छिपाये मारे मारे फिर रहे होंगे। अब तो उन्हें यज्ञ भाग मिलता ही न होगा। कुलीन वंश वाले सहसा किसी से माँग भी नहीं सकते, छोटा मोटा कार्य भी पद प्रतिष्ठा के विपरीत नहीं कर सकते। मैं कहाँ जाऊँ। कैसे करूँ, किस उपाय से मेरे बच्चे सुखी हो सकेंगे, किस जप, तप, तन्त्र, मन्त्र यज्ञ तथा अनुष्ठान के करने से मेरे बच्चों की श्रीवृद्धि होगी। देवताओं की माता अदिति दिन रात्रि यही सोचती रहती थी।

वह सुमेरु की सुन्दर उपत्यिका में अकेली रहती थी, उसके पति प्रजापति भगवान् कश्यप तपस्या करने एकान्त वन में चले गये थे। वे बहुत दिन की समाधि लगाकर उन सर्वात्मा प्रभु की आराधना किया करते थे। कभी-कभी समाधि भङ्ग हो जाने पर वे अदिति के समीप आते और आकर उससे कुशल पूछते, तथा आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध करके पुनः तपस्या के लिये चले जाते।

अब के जब समाधि भङ्ग होने पर भगवान कश्यप अदिति के आश्रम पर आये, तो उन्होंने क्या देखा आश्रम के चारों ओर एक विषाद पूर्ण वातावरण छाया हुआ है! वह आश्रय निरुत्सव और निरानन्द सा प्रतीत होता था। वहाँ के वृक्ष मुरझाये हुए से थे स्वच्छता का नाम नहीं, अदिति मलिनमुख

उदास और उत्साहहीन हुई किसी भाँति जीवन के दिन् काट रही है।

अपने पतिदेव भगवान् कश्यप को आते देख अदिति घुटनों पर हाथ रखकर बड़े कष्ट से विषाद का अनुभव करती हुई उठी और कृत्रिम हँसी हँसकर उसने पति का स्वागत किया। पाद्य, अर्घ्य आसनादि देकर उसने सत्कार पूर्वक पति को बिठाया और प्रणाम करके दीन वदना दुखी अदिति उनके समीप मुख नीचा करके बैठ गई।

उसकी ऐसी दशा देखकर दयावश प्रजापति कश्यप अपनी प्राण प्रिया पत्नी से प्रेम पूर्वक स्नेह भरी वाणी में बोले– "प्रिये! कहो, सब कुशल तो है?"

हाँ, महाराज! कुशल ही है" विषाद के स्वर में अदिति ने कहा। सम्पूर्ण ममता बटोरकर कश्यप ने कहा "क्यों, तुम आज ऐसी अनवनी क्यों बनी हुई हो? अपने दुख का कारण मुझे बताओ। तुम लोकमाता हो! क्या लोक में कोई दुर्घटना घटित हो गई है? ब्राह्मण सुखी तो हैं न? धर्म का संसार में प्रसार तो हो रहा है न? इन मर्त्यधर्मा भूलोक के प्राणियों का मङ्गल तो है न!

अदिति ने विषण वदन होकर कहा—"हाँ, महाराज! सब ठीक है। संसार में सर्वत्र शांति है।"

कश्यप जी ने कहा "तब तुम्हारे गृहस्थ धर्म में तो किसी प्रकार का व्याघात नहीं है? तुम्हारे धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कार्यों में तो कोई त्रुटि नहीं आई?

अदिति ने सिर नीचा किये ही किये कहा—"वह भी सब आपकी कृपा से ठीक चल ही रहे हैं।"

कश्यप जी ने अपनी बात पर वल देते हुए कहा—"तब फिर अपने दुःख का कारण बताओ। एक बात यह भी हो सकती है, कि गृहस्थी के घर पर भोजन के समय आशा से कोई अतिथि आवे और उसका भली--भाँति स्वागत सत्कार न हो, तो इससे भी गृहस्थियों का तप तेज नष्ट हो जाता है। कभी भूल से ऐसा अपराध तो तुम से नहीं बन गया। कभी तुम अपने गृहकार्यों में व्यग्र हो रही हो और आशान्वित होकर कोई गृहस्थी आया हो, उसे प्रत्युत्थान न दिया हो, पाद्य अर्घ्य तथा आचमनीय आदि से उसकी पूजा न की हो और वह निराश होकर तुम्हारे यहाँ से लौट गया हो। इससे तुम दुखी हो रही हो। यदि ऐसा हुआ है, तो यह अत्यन्त ही चिन्ता की बात है। गृहस्थी में नित्य नये पाप होते रहते हैं यह गृहस्थाश्रम चिन्ता का घर ही है, इसमें एक ही बात सर्वश्रेष्ठ है, कि आये हुए अतिथियों का स्वागत सत्कार होता है। जिस घर से अतिथि निराश होकर लौट जाते हैं, वह घर नहीं गीदड़ों का बिल है। कौओं के बैठने का घोंसला है। तुम से मुझे ऐसी आशा तो नहीं है।"

अदिति ने चौंककर रुक रुक कहना आरम्भ किया—नहीं प्रभो! जिनके आप जैसे तीनों लोकों के पूजित सर्वज्ञ प्रजापति पति हैं, उन स्त्रियों से ऐसा अक्षम्य अपराध बन ही कैसे सकता है?'

इस पर महामुनि कश्यप बोले---तेज हीन होने का एक

कारण यह भी हो सकता हैं, कि हम अग्नि होत्री गृहस्थी हैं । नित्य नियम से अग्नि पूजन करना हमारा धर्म है। पति के न रहने पर पत्नी ही अग्नि में होम करती है। मेरे न रहने पर कभी चित्त उद्बिग्न होने के कारण तुमने होम काल में हवन न किया हो, यह बात तो नहीं है ? क्यों कि ब्राह्मण और अग्नि ही श्री विष्णु भगवान् के मुख माने जाते हैं।

अदिति ने कहा—"नहीं प्रभो ! मैं आपकी अनुपस्थिति में दोनों समय होम काल में अग्नियों में हवन करती रहती हूं ?"

कश्यप जी ने कहा···"तब तो फिर तुम्हारे दुखी होने का मुझे कोई कारण दीखता नहीं। तुम बताती क्यों नहीं हो, तुम्हारे पुत्र एकादश आदित्य सब कुशल पूर्वक तो हैं न ?

यह सुनकर अदिति कुछ भी नहीं बोली चुप चाप नीचा सिर किये बैठी रही उसकी आँखों से अश्रु वह--बह कर उसके आन्तरिक वेदना को व्यक्त कर रहे थे वह अपने नखों से पृथिवी को कुरेद रही थी, चिन्ता के सागर में निमग्न थी पति के इस प्रश्न को सुनकर उसके हृदय का दुःख पानी बनकर आँखों द्वारा फूट निकला।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं "राजन् ! जब कश्यप जी ने बार बार अपनी पत्नी से दुख का कारण पूछा, तो वे धैर्य धारण

करके अपने प्राणनाथ से अपने दुःख का कारण बताने को प्रस्तुत हुई ।

—०—

छप्पय

मम सुत यश ऐश्वर्यहीन असुरनि ने कीये ।
दुष्ट दैत्य मिलि दुसह दुःख देवनिकूँ दीये ॥
सुरपुर कूँ सुर त्यागि फिरें सब मारे मारे ।
साधारन जन सरिस भूमि पै रहें बिचारे ॥
सब समर्थ सर्वज्ञ प्रभु आप प्रजापति महामुनि ।
नाथ कृपा ऐसी करें, पावें सुत ऐश्वर्य पुनि ॥



कश्यप जी द्वारा अदिति को उपदेश

(५५२)

उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम् ।
सर्वभूत गुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम् ॥
सन्निधास्यति ते कामान्हरिर्दीनानुकम्पनः ।
अमोघा भगवद्भक्तिर्नेतरेति मतिर्मम ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १६ अ० २०।२१ श्लो०)

छप्पय

प्रिया वचन सुनि भये चकित कश्यप मुनि ज्ञानी ।
पुत्र शोक तें दुखित अदिति की पीड़ा जानी ॥
सोचें माया प्रबल बिष्णु की विश्व नचावत ।
मिथ्या मति चित धारि नारि पति पुत्र बतावत ॥
सोचि समुझि बोले बचन, कृष्ण कृपा सब करिहैं ।
सेवा तें सन्तुष्ट ह्वै, हरि हियगत दुख हरिहैं ॥

भगवान् की ऐसी मोहिनी माया है, कि बड़े बड़े ज्ञानी

*अपनी पत्नी अदिति को उपदेश देते हुए भगवान् कश्यप कह रहे हैं—"प्रिये ! तुम उन भगवान् वासुदेव जगद्गुरु जनार्दन की उपासना करो जो सब भूतों के अन्तःकरण में विराजमान हैं, वे तुम्हारी कामना को अवस्य पूर्ण करेंगे क्योंकि वे दीन वत्सल है। एक मात्र भगवान् की भक्ति ही अमोघ कही जाती है किसी दूसरे की नहीं ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है ।

ध्यानी भी इसमें फँसकर अपने मुख्य कर्तव्य को भूल जाते हैं। संसार से वैराग्य हो जाय मैं श्री हरि को ही देखूँ मन में कोई सांसारिक कामना उठे ही नहीं यह तो सर्वोत्तम बात है। यदि ऐसा न हो सके, कोई दुख हो, धन का कष्ट हो, अथवा किसी प्रकार की जिज्ञासा हो, उसकी निवृत्ति के लिये साधारण लोगों की शरण में न जाकर भगवान् की शरण में जाया जाय, प्रभु से ही अपने दुःखों को मेटने का प्रयत्न किया जाय, तो वे सुकृति पुरुष हैं। साधारण लोगों से वे ऊच्चकोटि के हैं। क्योंकि भगवान् की भक्ति ही अमोघ है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं---"राजन्। जब प्रजापति भगवान् कश्यप ने अपनी पत्नी अदिति से उसकी विपत्ति के सम्बन्ध में पूछा, तो वह शनैः शनैः वेदना के स्वर में अपने पति से कहने लगी"'ब्रह्मन् ! मुझे लोकों में कोई अकल्याण नहीं दीखता, मैं यथा शक्ति धर्म का भी पालन करती हूं, अतिथि, अग्नि, देवता तथा पूज्यों की यथाशक्ति सेवा भी करती हूं। आप जैसे प्रजापति पति जब मुझे सर्वदा धर्मोपदेश देते रहते हैं, तब फिर मेरी कौन सी मनोकामना पूर्ण हुए बिना रह सकती है। मुझे अन्य किसी कारण से क्लेश नहीं है। मुझे अपनी सन्तानों के लिये दुःख है। मैं अपने पुत्रों के पराभव के कारण व्यथित हूं।"

श्री कश्यपजी ने कहा—"तुम्हारे पुत्रों पर कौन सा संकट आ गया ?"

अदिति ने कहा--"आप तो समाधि में स्थित थे। आप को तो संसार की भी सुधि नहीं थी। पीछे मेरे इन्द्रादि पुत्रों को मेरे सौत दिति के पुत्रों ने स्वर्ग से निकाल दिया। आज

असुरगण अमरपुरी के सुखों को भोग रहे हैं और मेरे पुत्र देवता पृथ्वी पर वेष बदल कर मारे मारे फिर रहे हैं।"

कश्यप जी ने सरलता के स्वर में कहा—"कोई बात नहीं है। स्वर्ग में रहे तो पृथिवी में रहे तो, इसमें क्या अन्तर सर्वत्र सुख दुःख मिला हुआ है। फिर दैत्य भी तो हमारे पुत्र ही हैं। भाइयों में से कोई भी स्वर्ग का सुख भोगे। इसमें दुख की कौन सी बात है?

अदिति ने दीनता के स्वर में कहा—'महाराज, आपके लिये तो कोई भी दुःख की बात नहीं है। यह सत्व, रज और तमोगुण से युक्त सम्पूर्ण सृष्टि आपसे ही उत्पन्न हुई है। आपके लिये तो कोई पराया है ही नहीं। सभी अपनी सन्तानें हैं, किन्तु मैं तो स्त्री ठहरी। मेरी ऐसी विशाल बुद्धि कैसे हो सकती है! मुझे तो अपने पराये का ज्ञान है। मेरे मन में तो यह भेद बुद्धि घुसी हुई है, कि यह मेरे पुत्र हैं, ये मेरी सौति के पुत्र है! आपका समान भाव रखना तो उचित ही है, किन्तु प्रभो! मैं तो ऐसा करने में असमर्थ हूँ। पुत्रों के साथ तो आप चाहें पक्षपात न भी करें, किन्तु मेरे साथ तो आप को पक्षपात करना ही पड़ेगा।"

हँसकर कश्यप जी ने कहा "तुम्हारे साथ क्यों पक्षपात करना पड़ेगा?"

अपनी बातपर बल देते हुए अदिति ने कहा—"इस लिये कि मैं आप की भक्ता हूं, आप में अनुरक्ता हूँ। आप की दासी हूँ, चरण सेविका हूँ। कल्पवृक्ष यद्यपि समदर्शी है उसके यहाँ भेदभाव नहीं, किन्तु मनो कामना तो उसकी पूर्ण करता है जो उसके आश्रय में जाता

है। जो उसकी छाया में बैठता है। मैंने तो आपके चरणों का आश्रय ले रखा है। आश्रितों की इच्छापूर्ति तो महेश्वर करते ही हैं।

कश्यप जी ने स्नेह के साथ कहा—अच्छा पहिले यह तो बताओ तुम मुझसे चाहती क्या हो ?

अदिति ने कहा—"मैं आपकी कृपा चाहती हूँ। आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें, शत्रुओं से श्रीहीन हुए मेरे सुतों की रक्षा कीजिये। उन्हें जैसे हो तैसे पुनः स्वर्ग के राज्य पर प्रतिष्ठित कीजिये। प्रबल पराक्रमी असुरों ने मेरे पुत्रों के ऐश्वर्य, धन, यश, और पद का अपहरण कर लिया है उन्हें असुरों से छीन कर पुनः मेरे पुत्रों को दिलाइये। मुझ शोक सागर में निमग्न अबला को करावलम्बन देकर उबारिये। मुझ दुःखिता दीना तथा निराश्रिता को आश्रय प्रदान कीजिये हमारी सम्पत्ति को दैत्यों से लौटाकर उसे फिर से हमें सोंप दीजिये। हे कृपालो! हे अशरण शरण। हे भक्तवत्सल भगवन् ? आप ऐसा अचूक यत्न कीजिये जिससे तत्काल मेरी मनोकामना पूर्ण हो सके। मैं इस दुःख से छूट कर सुखी हो सकूँ।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार कहकर अदिति चुप हो गई और बड़ी आशा भरी दृष्टि से अपने पति की ओर देखने लगी।" उस समय कश्यप जी गम्भीर हो गये थे। उनके सम्मुख मानों यह संसार की मोहिनी माया मुर्तिमती बनकर खड़ी थी। वे सोचने लगे—"देखो, यह भगवान् की कैसी विचित्र माया है क्षण भर के सङ्ग होने से जीव कहने लगता है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा भाई है। यह मेरी पत्नी है।

यह मेरा सगा है, यह सम्बन्धी है, यह शत्रु है यह मित्र वास्तव में कौन किसका शत्रु कौन किसका मित्र। पथिकों प्याऊ पर एकत्रित हो जाता है। धूप में कुछ देर चले साथ वृक्ष की छाया में बैठ गये, परिचय हो गया, मीठी कड़वी बा हो गई। क्षण भर पश्चात् जहां धूप कम हुई तुम अपने मार्ग तो अपने मार्ग। न जाने अनन्त जन्मों में कितनी बार पत्नी मा बनी होगी माता बहिन, पुत्र, पिता, पिता भाई, यह प्रवाह अनादि हैं। फिर भी जीव ममत्व करता है। सभी किसी किसी सम्बन्ध में आबद्ध हैं। सर्व भूतात्मा प्रभु जो इन ना रूपों में दिखाई दे रहे हैं उनका इन पदार्थों के साथ सम्ब ही क्या !"

कश्यप जी यह सब सोच ही रहे थे, कि इतने में अदिति ने फिर दीनवाणी में कहा—प्रभो, तव फिर मैं आशा करूँ ! क्या मेरे पुत्र इसी प्रकार भटकते रहेंगे ?"

कश्यपजी ने कहा—"प्रिये ! तुम इतनी विदुषी होकर ऐ भूली भूली बातें कर रही हो। संसार में कौन किसका कौन किसका पति ? यह सब तो मोह जनित सम्बन्ध भगवान् का भजन करो। दीनानुकम्पी भगवान् सब भला करेंगे।

अदिति ने दुखित मन से कहा—'महाराज ! इस स मुझे तो कुछ सूझता नहीं। हृदय में कामना होने के कारण किंकर्तव्य विमूढ़ा सी हुई हूँ।"

कश्यपजी ने कहा—"श्रीहरि तो वांछाकल्पतरु हैं, वे समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं, उनके चरणों छाया में रहने से कोई भी कामना शेष नहीं रह जाती।

कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। और किसी की भक्ति करें तो संभव है उसका फल विपरीत भी हो जाय, किन्तु भगवान् की भक्ति तो अमोघा है। वह कभी व्यर्थ हो ही नहीं सकती। शुभ कामना से ही सदा उन्हीं सर्वात्मा श्रीहरि की उपासना करो। उनकी शरण में जाने से निश्चय ही तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।"

अदिति ने कहा—"तब भगवन्! मुझे बताये। किस विधि से भगवान् की आराधना करूँ। कोई ऐसा काम अनुष्ठान, व्रत नियम बताइये, जिसे नियत समय तक करने से ही अभीष्ट सिद्धि हो सके। मनोकामना पूर्ण हो सके।"

इसपर कश्यप जी बोले—"वैसे भगवान् की भक्ति तो कैसे भी की जाय, मङ्गल ही देने वाली है, किन्तु किसी कामना से भक्ति करनी हो तो उसे नियम पूर्वक विधि विधान से करना चाहिये। यदि तुम पयोव्रत को करो, तो तुम्हारी कामना अवश्य पूर्ण हो सकती है। प्रभु स्वयं ही प्रकट होकर तुम्हें आशीर्वाद देगें।"

उत्सुकता के साथ अदिति ने पूछा—"भगवन्? वह पयोव्रत कैसे किया जाता है। मुझे उसकी उपासना विधि का विस्तार के साथ उपदेश कीजिये। इस समय अपने पुत्रों के कारण अत्यन्त दुखित हो रही हूँ मुझे ऐसी विधि बताइये कि मैं शीघ्र ही दुःख के सागर से पार हो सकूँ।"

इसपर कश्यप जी बोले—"प्रिये! वैसे हृदय में कामना का उत्पन्न न होना ही सर्वश्रेष्ठ है, यदि उत्पन्न हो जाय तो उसकी पूर्ति के लिये भगवान् से ही प्रार्थना

करनी चाहिये। पूर्व काल में मेरे मन में भी प्रजापति बनने की कामना उठी थी, तब इसी व्रत के करने से वह पूर्ण हो गई।

अब तो अदिति के मुख पर आशा के से चिन्ह दिखा दिये। वह बड़ी उत्सुकता के साथ पूछने लगी—"तब तो प्रभो यह आपका अनुभूत व्रत है। आपने किस कामना से यह व्रत किया था? यह कब की बात है, आपको किसने इस व्रत को बताया था?"

इसपर कश्यप जी ने कहा—"जब सृष्टि आरम्भ ही हुई थी, तब भगवान् की प्रेरणा से प्रजा की कामना मेरे मन में उत्पन्न हुई थी। उस समय लोक पितामह ब्रह्मा जी ने मुझे इस व्रत का उपदेश दिया था। इसके करने से मेरी इच्छा पूर्ण हुई।"

अदिति ने बच्चों की भाँति अत्यन्त उत्सुकता से कहा—"तब तो प्रभो! उस व्रत का मुझे अवश्य उपदेश करें। अभी करें।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! अदिति की उत्सुकता देखकर कश्यपजी उसे पयोव्रत का उपदेश करने लगे।

छप्पय

अदिति कहे हे देव! कृपा करि कष्ट मिटाओ।
व्रत मन इच्छा पूर्ण करन हित तुरत बताओ॥
कश्यप बोले—करो पयोव्रत प्रभु आराधौ।
हरि कूँ हियमहँ धारि नियम व्रत के सवसाधौ॥
अति उत्कंठित अदिति ह्वै बोली नाथ! बताइ दें।
कहा करूँ त्यागूँ कहा, विधि विधान समुझाइ दें॥

पयोव्रत की विधि

(५२३)

फाल्गुनस्यामले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतः ।
अर्चयेदरविन्दाक्षं भक्त्या परमयान्वितः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १६ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

बोले कश्यप है जीवन जा जग महँ छिनको ।
हरि आराधन करो पयोव्रत बारह दिन को ॥
केवल पी के दूध करो पूजन आराधन ।
इच्छा पूरन हेतु यही सर्वोत्तम साधन ॥
वित्त शाठ्य कूँ त्यागि के व्रत श्रद्धा ते जे करहिँ ।
सिद्ध करैं हरि काज सब, अवसि दुःख दारिद हरहिँ ॥

विधि विधान से किया व्रत कामना की पूर्ति करने वाला होता है। विधि हीन कोई काम करो उसमे सिद्धि नहीं, वह तो विपरीत फल को देने वाला होता है, आटा है, घी है शक्कर

---

* कश्यप जी अपनी पत्नी अदिति को उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"प्रिये ! फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा से बारह दिन पर्यन्त परम भक्ति भाव से समन्वित होकर कमल नयन भगवान् को पूजन करना यही प्रयोव्रत कहलाता है ।

है। वस्तुएँ सभी हैं यदि उनको विधि के साथ मात्रा देखकर यथोचित रीति से वस्तुएँ बनाई जायँ, तो उनसे हलुआ, जलेबी मालपुए चील्हे आदि सुन्दर सुन्दर पदार्थ बनेंगे जिनके खाने से चित्त प्रसन्न होगा, मन में तृप्ति होगी, शरीर की पुष्टि होगी और भूख की निवृत्ति होगी। यदि उन्हीं वस्तुओं को बिना विधि के बनाया जाय। आटा कच्चा रह जाय या बनाते समय जल जाय, कम अधिक जल डाल दिया जाय या अन्य त्रुटियां कर दी जायँ, तो वस्तुएँ तो बुरी बाबरी बन ही जायँगी किन्तु उनमें उतना सुन्दर स्वाद न होगा चित्त भी प्रसन्न न होगा और पेट में जाकर वे विकार उत्पन्न करेंगी, जिनसे नाना रोगों के उत्पन्न होने की संभावना हो सकती हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब देव माता अदिति ने अपने सवसमर्थ पति भगवान् कश्यप जी से पयोव्रत की विधि पूछी तो वे कहने लगे—"प्रिये! देखो मैं तुम्हें पयोव्रत की विधि बताता हूँ, तुम इसे ध्यानपूर्वक सुनना। विधि विधान में गड़बड़ी मत कर देना। यह व्रत १२ दिन का होता है। फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा से इसे आरम्भ करते हैं। पहिले दिन अर्थात् फाल्गुन की अमावस्या को पवित्र होकर व्रत की दीक्षा ली जाती है। इसमें १२ दिन केवल दूध ही पिया जाता है। दूध के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं और विधिविधान पूर्वक भगवान् का आराधन होता है।

अदिति ने पूछा—"हाँ तो भगवन्! अमावस्या के ही दिन से कृत्य बताइये उस दिन क्या करे?

कश्यप ने कहा—"उस दिन प्रातः काल उठे यदि मिल सके

तो अरण्य से जंगली सूअर की खोदी हुई मिट्टी को ले आवे। वह न मिल सके तो गोशाला की, गंगाजी की, तीर्थ की, तुलसी जी के नीचे की या ब्राह्मण गुरु के पैरों के नीचे की ही मृत्तिका ले ले। फिर यदि नहीं हो तो नदी पर अथवा तालाब या कूएं पर जाकर स्नान करे। अपने सम्पूर्ण अङ्गों में मृत्तिका लगावे। इस मन्त्र को पढ़ता जाय कि देवि! सब प्राणियों के रहने के लिये आदि वाराह भगवान् ने तुम्हारा रसातल से उद्धार किया था। तू मेरे पापों को नाश करदे, तुझे नमस्कार है।*

त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता।
उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय॥

मृत्तिका लगाकर विधिपूर्वक स्नान करें। स्नान करके अपने नित्य काम करे फिर भगवान् का पूजन करे।"

अदिति ने कहा—"भगवान् का पूजन किसमें करे। भगवान् तो सर्व व्यापक हैं?"

कश्यपजी ने कहा—"देखो, यह तो अपनी इच्छा और भावना के ऊपर निर्भर है जहाँ जिसकी श्रद्धा हो उसी में भगवद् बुद्धि से भगवान् का पूजन करे। भगवान का अर्चा विग्रह है, उनकी मूर्ति है, उसी में पूजा करे। नहीं तो एक वेदी बनाकर उसमें पूजे। सूर्य देवता में ही ईश्वर बुद्धि से करे। जल में अग्नि में अथवा अपने गुरुदेव की ही षोडशोपचारों से पूजा करे। पहिले पौराणिक मन्त्रों का पढ़ कर भगवान् का आवाहन करें फिर पाद्यअर्घ्य आचमनीय दे। दुग्ध से भगवान् को स्नान करावे। तदन्तर शुद्ध जल से स्नान कराके वस्त्र, यज्ञोपवीत धारण करावे। फिर गन्ध, धूप, दीप, पुष्प तुलसी, माला दूर्वा तथा विल्व आदि अर्पण करे। प्रत्येक

वस्तु को अर्पण करते समय द्वादशाक्षर मन्त्र को पढ़ता जाय। सभी पूजा इसी मूल मन्त्र से करे। फिर दूध में शाली के चावल डालकर खीर बनावे उसमें घी चीनी अथवा गुड़ छोड़े। उससे अग्नि में द्वादशाक्षर मन्त्र से हवन करें। बची हुई खीर से यथाशक्ति ब्राह्मणों को भोजन करावे। हवन के पूर्व उसी खीर से भगवान् को भोग लगावे। भोग लगाकर आचमन करावे, फलअर्पण करे फिर आचमन करा के तम्बूल पुंगीफल दक्षिणा समर्पण करें। द्वादशाक्षर मन्त्र का १०८ बार जप करे। सुन्दर स्तोत्रों द्वारा भगवान् की स्तुति करे। भूमि में लोटकर साष्टांग प्रणाम करे। स्त्रियाँ पंचाङ्ग ही प्रणाम करें। भगवान् के प्रसादी चंदन को मस्तक पर लगावें। चरणामृत लें। फूल मालाओं को शिरपर धारण करें। तदन्तर विधि पूर्वक विसर्जन कर दे।

ब्राह्मण भोजन कराके उनका विधिवत सत्कार करके व्रत का संकल्प ले और जो बचा हुआ नैवेद्य हो उसे स्वयं पावै। भगवान् का स्मरण करता हुआ रात्रि में सो जाय। यह व्रत के एक दिन पहिले अमावस्या का कृत्य हुआ।

दूसरे दिन प्रातः काल उठे। फिर उसी प्रकार नित्य नियम से निवृत्त होकर। विधिपूर्वक भगवान् का पूजन करे, हवन करे ब्राह्मण को भोजन करावे और भगवान् का भोग लगाकर केवल दूध ही पीकर रहे। इस प्रकार १२ दिनों तक नित्य केवल दूध पान करता हुआ, होम, पूजन और ब्राह्मण भोज किया करे। प्रतिपदा से त्रयोदश पर्यन्त नियम से रहे, ब्रह्मचर्य व्रत का सावधानी से पालन करे। फिर विधि पूर्वक व्रत का

उद्यापन करे। उद्यापन करते समय वित्त शाठ्य न करे अपनी शक्ति के अनुसार धूम धाम से उत्साह पूर्वक महोत्सव करे। प्रतिदिन गाना बजाना हो, नृत्य हुआ करे। कथा कीर्तन की धूम रहे। आगत अतिथियों का भक्ति पूर्वक ईश्वर बुद्धि से स्वागत सत्कार और पूजन करे।

भगवान् कश्यप अदिति से कह रहे हैं---"देवि इसी व्रत का नाम पयोव्रत है। मुझे इसका उपदेश पितामह ब्रह्माजी ने दिया था। यदि तुम इस व्रत को बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ विधि विधानपूर्वक एक मात्र हरि का ही चिन्तन करती हुई करोगी, तो अवश्य ही अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त कर लोगी। तुम यदि भगवान् को भी चाहो तो वे भी तुम्हें प्राप्त हो जायेंगे। इस व्रत से भगवान् शीघ्र ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसका नाम सर्वव्रत" भी है। कोई कोई इसे सर्वयज्ञ भी कहते हैं। यह तपस्या का सार है और भगवान् विष्णु को वश में करने का सर्वोत्तम, सुन्दर--सरल और सर्वश्रेष्ठ साधन है। वैसे व्रत तो बहुत हैं। असंख्यों काया को क्लेश देने वाले कठिन से कठिन व्रत हैं, किन्तु यथार्थ में तो वही सच्चा व्रत है जिसके करने से भगवान् वासुदेव प्रसन्न हो जायँ। भगवत् प्रीत्यर्थं किया हुआ दान ही सच्चा दान है। प्रभु प्रसन्नतार्थ किया हुआ नियम ही यथार्थ नियम है। जिससे तपोमूर्ति प्रभु प्रसन्न हो वही वास्तविक तप है। तुम श्रद्धा, संयम सदाचार और सरलता के साथ इस व्रत का आचरण करो। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी भगवान् तुम पर प्रसन्न हो जायेंगे। फिर तुम जो चाहो वही वर मांग लेना। भगवान् सर्व समर्थ है। उनके यहाँ आश्रितों के लिये अदेय कोई वस्तु

ही नहीं।'

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपने पति की ऐसी शिक्षा सुनकर अदिति बड़ी श्रद्धा के साथ इस व्रत का पालन करने के लिये उद्यत हुई।

हरि पूजन अरु हवन विप्र भोजन बारह दिन।
कथा कीरतन करें नृत्य वादन अरु गायन॥
जा विधि तें जे भक्ति सहित श्रीहरि कूँ सेवें।
प्रभु प्रसन्न ह्वै इंष्ट वस्तु निश्चय करि देवें॥
अदिति सुने व्रत के नियम, अति प्रसन्न मनमहँ भई।
सर्वयज्ञमय पयोव्रत विधितें करिबे लगि गई॥



सी
न

पयोव्रत से प्रसन्न प्रभु का प्राकट्य

(५५४)

तस्याः प्रादुरभूत्तात भगवानादिपूरुषः ।
पीतवासाश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥
तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहसोत्थाय सादरम् ।
ननाम भुवि कायेन दण्डवत्प्रीतिविह्वला ॥
(श्री भा० ८ स्क० अ० १७ ४,५ श्लो०)

छप्पय

निरखि अदिति व्रत नियम भये अति तुष्ट गदाधर ।
भये प्रकट अखिलेश चतुर्भुज विष्णु मनोहर ॥
सम्मुख श्री पति लखे प्रेम महँ विह्वल माता ।
परी दण्डवत भूमि निरखि हरि भवभय त्राता ॥
अति उत्कंठित भरित हिय, लज्जातें पुनि झुकिगई ।
विनय करन एच्छा भई, गद् गद् बानी रुकिगई ॥

प्रेम की डोर इतनी प्रबल है, कि प्रभु उसमें बँध कर अपने

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ? पयोव्रत के प्रभाव से अदिति के सम्मुख भगवान् आदि पुरुष श्रीहरि प्रादुर्भूत हुए । वे पीताम्बर पहिने चार-चतुर्भुज थे । उनमें शङ्ख चक्र गदा तथा पदम, धारण किये थे । उन्हें अपने नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष निहार कर आदर के साथ माता सहसा खड़ी हो गई । फिर प्रेम में विह्वल होकर पृथ्वी पर पड़कर भगवान् को दण्ड प्रणाम किया ।

आप खिचे चले आते हैं। अपराजित प्रभु को भक्त ही अपनी भक्ति से पराजित कर सकते हैं। सर्व तन्त्र सर्वेश्वर को भगद्भक्त ही वश में कर सकते हैं। प्रभु प्रेम के ही द्वारा जीते जा सकते हैं। वे भक्त कल्प द्रुम हैं। आशा रूपी लता के लिये वे घनश्याम ही अमृत वृष्टि करने वाले सजल श्यामघन हैं—। प्रेम से की हुई पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाती। स्नेह से किया हुआ आह्वान सदा सफल ही होता है। अतः जिन्हें किसी भी प्रकार की कामना हो उन्हें करुणा सागर कृष्ण के चरण कमलों का आश्रय लेना चाहिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं राजन्। देवमाता अदिति अपने पति भगवान् कश्यप के मुख से पयोव्रत की प्रशंसा सुनकर परम प्रसन्न हुई। फाल्गुन की अमावस्या के आते ही उन्होंने सर्वव्रत स्वरूप सर्वयज्ञसार इस महाव्रत को आरम्भ कर दिया। यह तो वैष्णव व्रत है। नित्य विष्णु की विधिविधान से आराधना ही इसका मुख्य उद्देश्य है। श्रद्धा सहित पूजित प्रभु समस्त मनोरथों को पूर्ण करते हैं। इसी भावना से माता ने इस व्रत की दीक्षा ली थी वे बड़ी सावधानी से व्रत के समस्त नियमों का पालन करने लगीं।

व्रत की समाप्ति पर उन्होंने सहसा एक दिन क्या देखा, कि उनके सम्मुख पीताम्बर धारी बनमाली प्रत्यक्ष खड़े खड़े मन्द मन्द मुसकरा रहे हैं। उनके सुन्दर और विशाल चार भुजायें हैं, जिनमें शंक, चक्र, गदा और पद्म विराजमान हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त जो सदा व्यग्र बने रहते हैं, आदि पुरुष अच्युत जब अकस्मात् अदिति के सम्मुख आविर्भूत हुए, तो माता सहसा सकपका गई। आनन्द के अतिरेक

के कारण वे किंकर्तव्य विमूढ़ सी बन गई। जैसे मानों किसी ने यन्त्र से उन्हें उठा दिया हो वैसे बिना संकल्प के ही शीघ्रता से उठकर प्रेम में विह्वल हुई, एकटक दृष्टि से उस त्रैलोक्य वंदित अनवद्य सौन्दर्य सुधा का अपलक पान करने लगीं। अत्यंत पियासु के समान वे उन्हें ऐसी निहार रहीं थी मानों निःशेष पान ही कर जायँगी। सहसा उन्हें स्मरण हो आया मैंने अपने इष्ट को मनन नहीं किया। अपने प्रभु के पाद पद्मों में प्रथम प्रणाम करना चाहिये। इस विचार के आते ही प्रेम में विह्वल हुई पृथ्वी पर लकुट के समान लेट गईं। प्रेम भरित हृदय से वे प्रभु के पादपद्मों के समीप लम्बायमान हो गईं, इस बात को वे भूल ही गई कि स्त्रियों को साष्टाङ्ग प्रणाम करना निषेध है। उनके पयोधरों का पृथ्वी से स्पर्श होना निषिद्ध है। प्रेम में नियम कहाँ! आवेश में स्मृति नहीं रहती। आत्म विस्मृति विह्वलता का चिह्न है।

कुछ काल पृथ्वी पर पड़े रहने के अनन्तर उसे स्मरण आया मेरे जीवन सर्वस्व प्राणधन खड़े हैं, मैं पड़ी हूँ, उनके पधारने पर कुछ स्तुति करनी चाहिये। विनय वचन कहकर उनका स्वागत करना चाहिये। इस विचार के आते ही वे उठकर खड़ी हो गईं। स्तुति विनय करने के निमित्त उन्होंने दोनों हाथों की अजलि बाँध लीं। आँखों से निरन्तर अश्रु प्रवाह प्रवाहित हो रहा था। अत्यन्त उल्लास के कारण हृदय उछल सा रहा था। सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्च से परि पूर्ण था। वाणी रुद्ध थी। विनय करना चाहती थीं किन्तु वाणी साथ नहीं देती थी। कंठ रुद्ध हो रहा था, अपने प्रयास को असफल निहार कर उन्हें लज्जा का अनुभव होने लगा, वे सिर नीचा किये प्रभु के सम्मुख मूकवत बिना बोले चाले खड़ी की खड़ी

ही रह गई। पुनः अपने को सम्हाला, धैर्य का आश्रय लिया। नेत्रों को ऊपर किया, नेत्र उन श्यामसुन्दर की छबि में उलझ गये। चैतन्य से जड़ हो गये। वे निमेष उन्मेष के व्यापार से रहित हो रहे थे। ऐसी प्रतीत होता था, मानों ये चिरकाल के प्यासे नयन प्रभु के समस्त सौंदर्य का पान ही कर जायँगे उत्कंठा की पराकाष्ठा हो रही थी। फिर भी शनैः शनैः चित्त को स्थिर करके मन्द मन्द स्वर में उन्होंने विश्वम्भर की विनती आरम्भ की। अदिति कहने लगीं—"हे यज्ञेश्वर! हे अच्युत! हे यज्ञस्वरूप! हे पवित्रपाद! हे पवित्र कीर्ति वाले! हे श्रवण मंगल नाम वाले! हे शरणागत दुखभंजन! हे आर्तत्राणा परायण! हे आदि पुरुष! हे दीनानाथ! हे सर्व समर्थ? हे परात्पर प्रभो? हे विश्व की उत्पत्ति, स्थित और प्रलय करने वाले परमात्मन्! हे स्वेच्छा से नाना शक्तियों को स्वीकार करने वाले भूमन्! हे अनन्त! हे अच्युत! हे अज्ञानान्धार को नाश करने वाले सूर्य स्वरूप आपके परम पावन पूजनीय पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। आप हमारा कल्याण करें हमें इच्छित वर दें। हमारी मनोकाममा पूर्ण करें।

आप जिन पर प्रसन्न हो जाते हैं, उनके लिये संसार में कौन सी वस्तु दुर्लभ है। यदि वे दीर्घायु चाहें तो ब्रह्मा की आयुपर्यन्त आप आयु देते हैं। यदि वे सुन्दर शरीर चाहें तो कोटि कामदेवों के सदृश सुन्दर देह देते हैं। यदि वे ऐश्वर्य चाहें तो संसार का समस्त ऐश्वर्य उन्हें प्राप्त हो सकता है। यदि वे आधिपत्य चाहें तो, पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग तथा भुवनों का साम्राज्य आप दे सकते हैं। यदि सिद्ध होने की अभिलाषा हो, तो आपका अनुग्रह होने असंख्यों मूर्तिमान सिद्धियां हाथ जोड़े उनके सम्मुख खड़ी रहती हैं। यदि उन्हें

त्रिवर्ग की इच्छा हो, तो धर्म, और काम को आप प्रदान करते हैं। यदि मोक्ष, की इच्छा हो, तो उसके साधन स्वरूप ज्ञान को भी आप उनके हृदय प्रदेशों में उदित कर देते हैं। जब आप अपने आश्रितों को सब कुछ दे देते है, तो मेरी कामना अति तुच्छ है। कहने में भी मुझे लज्जा आती है। सम्राट् को प्रसन्न करके उससे एक मुट्ठी सूखी घास की याचना करने के समान है। मैं तो केवल अपने शत्रुओं पर विजय ही प्राप्त करना चाहती हूँ। स्वर्ग से भ्रष्ट अपने सुतों को पुनः स्वर्गीय पदों पर प्रतिष्ठित करना चाहती हूँ। किन्तु करूँ क्या, कामना जब हृदय में उदित हो जाती है, मनुष्य को उसके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये। बुमुक्षित पुरुष को सुन्दर चन्दन लगाओ उत्तम माला पहिनाओ गुदगुदे से गुदगुदे गद्दे पर शयन कराओ। सुरसुन्दरियों के काकिल कूञ्जित कमनीय कंठों से सुन्दर सुखद संगीत सुनवाओ। ये सब सुखप्रद वस्तुएँ उस समय उसे दुखद ही प्रतीत होंगी। उस समय तो उसे भोजन चाहिये। पिपासित को पेय चाहिये। इसी प्रकार आज मैं मोक्ष नहीं चाहती। आप सर्वज्ञ सर्वात्मा को प्रसन्न करके भी आज मैं केवल असुरों का पराभव अपनी आँखों से देखने को लालायित हो रही हूँ। यह मेरी अति उत्कंट अभिलाषा है।"

पैरा अदिति के ऐसे विनम्र वचनों को सुनकर सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ सच्चिदानन्द भगवान् बोले—हे देवमाता ! मैं तुम्हारे मनोगत भावों को पहिले से ही जानता हूँ। तुम जो असुरों को पदच्युत और श्रीहीन देखना चाहती हो वह मुझसे अविदित नहीं है। मैं जानता हूँ, तुम असुरों को स्वर्ग से निकाल कर सुरों

को उसमें पुनः प्रतिष्ठित करने को निमित्त समुत्सुक हो। तुम्हारा चित आज प्रतिहिंसा की अग्नि से जल सा रहा है।"

यह सुनकर अदिति कुछ लज्जित होकर नीचे की ओर देखती रही। तब फिर भगवान् मेघ गंभीर वाणी में बोले—" देवि! जैसे आज तुम्हारे पुत्रों की स्त्रियाँ पतिविहीन बनी बिना शृंगार किये बिना वेंणी बाँधे रोती रहती हैं उसी भाँति तुम अपने शत्रुओं की स्त्रियों को भी देखना चाहती हो। तुम युद्ध में मरे असुरों की स्त्रियों को वैधव्य दुख से दुखित देखने के लिये व्यथित रही हो। तुम अपने खोये हुए यश ऐश्वर्य और पदप्रतिष्ठा के दुख से दुखी पुत्रों को सुखी समृद्ध और हँसते हुए देखना चाहती हो। किन्तु मैं करूँ क्या..! दोनों ही ओर से संकट है। ब्राह्मणों को भी भक्ति मैंने ही दी है। वे भी मेरे ही रूप हैं। तुम्हारे शत्रु मेरे दूसरे स्वरूप का गुरु रूप में आराधना कर रहे हैं। तुम भी मेरी आराधना कर रही हो। अतः उनकी पराजय भी कठिन है और तुम्हारा मनोरथ पूर्ण न करूँ, यह भी अनुचित है। तो भी मेरी उपासना व्यर्थ न हो इसके लिये मैं कोई अन्य उपाय सोचूँगा। स्वयं मुझे बीच में पड़ना होगा।

अदिति ने दीनता के साथ कहा—"नहीं, प्रभो! मेरी इच्छा तो आपको पूर्ण करनी ही होगी। मेरे तो आप ही एक मात्र आश्रय हैं। आप ही गति हैं।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! अदिति के ऐसे वचन सुनकर श्रीहरि कोई अन्य उपाय सोचने लगे।

छप्पय

पुनि सुरमातु सम्हारि अपनपो बोली बानी !
हे अनादि ! अखिलेश ! अखिलपति ! इच्छादानी।
हे सुररक्षक देव विष्णु देवतिप भंजन खलदल ।।
हे यज्ञेश्वर ! यज्ञरूप ! शरणागतवत्सल ।
निरखैं कृपा कटाक्ष तें, नासैं तिनकी सब व्यथा।
सिद्ध मनोरथ करैं पुनि, शत्रु विजय की कथा ।।



अच्युत का अदिति को स्वयं पुत्र होने का वरदान।

(५५५)

त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये–
पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः ।
स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान,
गोप्तास्मि मारीचतपस्यधिष्ठितः ॥
(श्री भा० ८ स्क० १७ अ० १८ श्लोक)

छप्पय

हँसि हरि बोले मातु बात तब हिय की जानी।
कीन्हें सुर श्री हीन बढ़े दिति सुत अभिमानी ॥
स्वर्ग हीन सुत भये विजय चाहो तुम तिनकी।
मिलै स्वर्ग ऐश्वर्य वृद्धि होवे देवनिकी ॥
यद्यपि असुर अजेय हैं, गुरु सेवा महँ निरत सब।
होहिन निष्फल मम भजन, तदपि करहु कछु यत्न अब ॥

जहाँ दो भक्त एक वस्तु के लिये अड़ जाते हैं वहाँ स्वामी की स्थिति शोचनीय हो जाती है। दोनों अपने है। दोनों में

ॐ अदिति से श्रीहरि कह रहे हैं—"अदिति ! तुमने पयोव्रत के द्वारा अपने पुत्रों की रक्षा के निमित्त मेरी पूजा की है। अत: मैं मरिचि नन्दन कश्यप जी के तीर्य में स्थिर होकर अपने अंश मे तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारे पुत्रों का रक्षक होऊँगा।

से कोई त्याग करने को उद्यत नहीं। दोनों का ही उस वस्तु के लिये आग्रह है। ऐसी अवस्था में स्वामी को छोटा बनना पड़ता है। वे दीनता के साथ सबल पक्ष से कहते हैं "अच्छा उनको छोड़ो मैं तुमसे भीख माँगता हूँ, मुझे तुम दे दो।" शत्रु को देने में अपमान है, लघुता है, किन्तु जब स्वामी याचना करता है, तो उसे देने में गौरव है, प्रतिष्ठा है। बड़े तो बड़े ही हैं, वे चाहें आज्ञा देकर छोड़ने को कहें या नम्रता से माँग लें। ऐसी दशा में स्वामी को दोनों ही पक्षों को सन्तुष्ट करना पड़ता है। क्रमशः दोनों को ही उस वस्तु के उपभोग का अवसर देते हैं।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जब अदिति बारम्बार भगवान् से अपने पुत्रों को स्वर्ग का पुनः राज्य दिलाने के लिये प्रार्थना करने लगीं तब भगवान् बोले—"देवि ! कोई दुष्ट हो, अन्याय कर रहा हो, तब मैं उसे दण्ड दे सकता हूँ, पदभ्रष्ट कर सकता हूँ। महाराज बलि तो मेरे भक्त हैं गुरु सेवा में निरत हैं, यज्ञों द्वारा मेरा पूजन कर रहे हैं। उनसे मैं युद्ध नहीं कर सकता, मार नहीं सकता, बलपूर्वक स्वर्ग से निकाल नहीं सकता। मुझे उनके सम्मुख छोटा बनना होगा। बिना छोटे बने काम चलेगा नहीं।"

अदिति ने कहा—"प्रभो ! आप छोटे बने या मोटे। आपको मेरी इच्छा तो पूर्ण करनी ही होगी। आप छोटे बनकर भी बड़े ही बने रहेंगे। आपके बड़प्पन में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आ सकती।

भगवान् ने कहा—"देवि ! मेरे लिये यह धर्मसंकट उपस्थित हो गया है तुम भी मेरी भक्ता हो, बलि भी मुझ में अनुरक्त हैं। अतः मुझे देवताओं से भी छोटा बनना पड़ेगा

और दैत्यों से भी जो सबसे छोटा भाई होता है, उसे सब भाइयों की धोती धोनी पड़ती है। कोई भी काम होगा, सभी छोटे से ही करने को कहेंगे। इसलिये मुझे देवताओं का छोटा भाई बनना पड़ेगा। अब तक तुम्हारे ११ पुत्र हैं, अब एक बारहवाँ मैं भी तुम्हारा पुत्र होऊँगा। मैं अपने अंश से तुम्हारे पति प्रजापति कश्यप के वीर्य में स्थित होकर तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न होऊँगा। इस प्रकार तो बड़े भाइयों की सेवा करना मेरा कर्तव्य हो जायगा। दूसरी ओर दैत्यों से भी मुझे छोटा बनना है। संसार में सबसे हलका भिक्षुक है। लोग तो कहते हैं तृण सबसे हलका है। किन्तु तृण से भी हलका भिक्षुक हैं, जिसे वायु भी इस भय से नहीं उड़ाती, कि यह कहीं मुझ से भी न माँग बैठे। मेरे भी सम्मुख हाथ न पसार दे। देवि! जिसने किसी के सम्मुख हाथ पसरा उसे तुम जीवित मत समझो वह तो मृत तुल्य है। सबसे छोटा है। अतः दैत्यों के सम्मुख मैं भिक्षुक बन कर काम निकालूंगा। इस प्रकार इस विषम ग्रंथि को सुलझाऊंगा।"

अदिति ने आश्चर्य चकित होकर कहा—"महाराज! आप तो त्रिलोक के नाथ हैं। मेरे गर्भ में कैसे आवेंगे। मैंने सुना है, आप भाग्यवती महिलाओं के ऊपर कृपा करके भक्त वत्सलता के नाते कभी कभी लीला पूर्वक अजन्मा होकर भी उनके गर्भ से अवतरित होते हैं। मैं इस योग्य तो हूं नहीं किन्तु आप मेरे ऊपर भी कृपा करना चाहते हैं, आज्ञा कीजिये मुझे क्या करना होगा।

भगवान् ने कहा—"देवि! तुम आज से अपने सर्वसमर्थ पति में मुझे इसी प्रकार विराजमान देखो। उनकी ईश्वर बुद्धि से आराधना करो। भगवत् भाव से उनकी पूजा करो। उनमें

रूप में निरंतन मेरा ही चिन्तन करो। तुम्हारा कल्याण होगा। परन्तु एक बात ध्यान में रखना।

अदिति ने कहा—"वह कौन सी बात है, महाराज ?"

भगवान् ने कहा—"देखो मैंने तुम्हें दर्शन दिये हैं और इस प्रकार का वर दिया है, इस बात को भूल में भी किसी से मत कहना।"

अदिति ने सतर्क होकर पूछा—"यदि महाराज मुझ से कोई पूछे तो ?"

भगवान् ने कहा—"यदि कोई पूछे तो भी मत बताना इधर उधर हाँ हूँ करके टाल देना।"

अदिति ने कहा—"क्यों प्रभो ! इसमें क्या दोष है ? सच्ची बात बताने में क्या हानि है ?"

भगवान् ने कहा—"हानि तो। कुछ नहीं। सांसारिक बातों को बताने में तो कोई बात नहीं। किन्तु ये भगवद् दर्शन सम्बन्धी बातें जितनी ही छिपाकर रखी जायें उतनी ही उत्तम हैं। देवताओं को परोक्ष प्रिय बताया गया है, अतः देवताओं के सब कार्य गोपनीय रहने से ही भली प्रकार सिद्ध होते हैं।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् ने अदिति से मना क्यों किया। हमें भगवान् के दर्शन होजायँ उसे हम और १० आदमियों से कहें, उनका भी उत्साह बढ़े, प्रचार ही यह तो उत्तम बात है। छिपाने से क्या लाभ ?"

इसपर गंभीर होकर सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! आप कस्तूरी को कितना भी छिपाकर रखें वह छिप नहीं सकती इसी प्रकार पाप पुण्य कितने भी छिपाकर किये जायें एक न एक दिन वे अवश्य ही प्रकट हो जायेंगे। फिर भी अपने आप पुण्य प्रकट करने से दूसरों से कहने

से—क्षय हो जाते हैं। अपने पापों को दूसरों से कहते फिरें तो दूसरे हमारी निंदा करेंगे। तो हमारा पाप उन निंदकों पर चला जायगा। अतः जो पाप बन जाय उसे कह देना चाहिये। इसी प्रकार जो पुण्य हमसे बन गया है, उसे हम दूसरों पर प्रकट कर दें तो उसका सब फल प्रशंसा करने वालों पर चला जाता है। अतः पुण्य कार्य जितने छिपाये जायँ उनकी उतनी ही वृद्धि होगी।

महाराज जब स्वर्ग गये, तो इन्द्र ने उनके पुण्यों के प्रभाव से प्रभावित होकर उन्हें आधा आसन दिया। इन्द्र तो बड़े कूटनीतिज्ञ हैं। उन्होंने राजा से पूछा—"राजन् ? आप बड़े धर्मात्मा हैं आपने पृथ्वी पर रहकर कौन कौन से पुण्य कार्य किये ?"

राजा को अहंकार हो गया उन्होंने कहा—"देवेन्द्र। मैं अपने पुण्यों का वर्णन कहाँ तक करूँ। मैंने यह किया, वह किया, उसे इतना दिया, ऐसे यज्ञ किये, इतने भारी भारी दान दिये। सारांश, मैंने इतना पुण्य किया, जितना कोई कर ही नहीं सकता।"

यह सुनकर इन्द्र हँस पड़े और बोले—"राजन्! आपका सब पुण्य नाश हो गया। अब आप नीचे सिर करके यहाँ से भूलोक में गिराये जायेंगे।"

यह सुनकर राजा बड़े घबड़ाये और बोले—'अच्छी बात है, मेरा पतन होना ही है तो हो, किन्तु मैं आपसे यही वरदान चाहता हूँ, कि मैं साधु पुरुषों के बीच में गिरूँ।"

इन्द्रने कहा—"ऐसा ही होगा, और उन्हें उसी क्षण पुण्य क्षीण हो जाने के कारण नीचा सिर करके पृथ्वी पर पटक दिया

गया। जहाँ उनके धेवते यज्ञ कर रहे थे वहाँ राजा गिरे और उन लोगों के पुण्य प्रभाव से फिर स्वर्ग को चले गये।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! पुण्यकार्यों को भी अपने मुखों से स्वयं कहना न चाहिये। अपने कर्मों की प्रशंसा स्वयं न करनी चाहिये। जो अपनी प्रशंसा अपने मुख करता है, वह जीवित ही मृतक के समान है। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी, जो मेरे गांडीव की निंदा करेगा उसे मैं मार डालूँगा।"

जब कर्ण के बाणों से व्यथित हुए धमराज युधिष्ठिर ने अर्जुन की और उनके गांडीव की निन्दा की तब अर्जुन खड्ग लेकर उन्हें मारने दौड़े। तब भगवान् ने बीच में ही रोककर कहा—"अरे यह तू क्या करता है ?"

अर्जुन ने कहा—"मेरी प्रतिज्ञा है जो गांडीव धनुष की निंदा करेगा उसका मैं वध कर दूँगा। धर्मराज ने गांडीव की निन्दा की है। उन्हें मारकर प्रतिज्ञा पालन करना मेरा धर्म है। क्या मैं अपनी प्रतिज्ञा को त्यागकर भ्रातृ मोह के कारण झूठा बनूँ क्या अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ दूँ ?"

भगवान् ने सरलता के साथ कहा—"प्रतिज्ञा छोड़ने की आवश्यकता नहीं। तुम धर्मराज का वध अवश्य करो। किन्तु अशस्त्र वध करो।"

अर्जुन ने पूछा—अशस्त्र वध कैसा होता है ?

भगवान् ने कहा—"सेवक यदि राजा की आज्ञा नहीं मानता तो वह राजा का वध है। पत्नी को अपनी शैया से पृथक् कर देना उसका वध ही है। अपने से बड़ों की उनके मुख पर ही निंदा करना, उन्हें तू कहकर पुकारना यह उनका अशस्त्र

वध ही है। तुम धर्मराज को तू तड़ाका, बोलकर उनकी निन्दा कर दो । उनका वध हो जायगा। तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी।"

भगवान् की आज्ञा मानकर अर्जुन ने ऐसा ही किया। धर्मराज की उनके मुख पर निन्दा करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

फिर खड्ग लेकर वे अपना सिर स्वयं काटने लगे। इस पर फिर भगवान् ने उन्हें रोककर पूछा—"अब तुम क्या कर रहे हो ?"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो ! बड़ों का अपमान करने के पाप का प्रायश्चित्त यही है, कि अपने शरीर का अंत करदे स्वयं मर जाय। अतः मैं अब जीवित रहना नहीं चाहता।"

भगवान् ने, कहा—"अच्छी बात है, तुम मरना ही चाहते हो तो खड्ग का क्या काम ? अपने कर्मों की अपने आपही तुम प्रशंसा करो। अपने मुख अपनी प्रशंसा करना मृत्यु के ही समान है।"

सव्यसाची अर्जुन ने ऐसे ही किया। अपनी बहुत बढ़-चढ़ कर प्रशंसा की।"

सूत जो सुना रहे हैं—मुनियो ! सारांश यह है, कि आप किसी से अपने गौरव की बातें न कहें। १२ दिन में ही भगवान् के साक्षात् दर्शन हो जाना और अपने आप ही पुत्र होने का वरदान देना, अदिति के लिये यह अत्यन्त गौरव की बात है। उसे वह सबसे कहती फिरें, तो उनके सुकृत नष्ट उनमें हो जाते। ऐसे बहुत से लोगों के दृष्टान्त हैं कि पहिले तो बड़ी सिद्धियाँ थी, किन्तु जब वे उन्हें सब पर प्रकट करने, लगे तो वे सब चली गईं। जो लोग अपूर्ण होते हैं, वे ही अपनी

तनिक सी बात को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रकाशित करने की चेष्टा करते रहते हैं। हमने बहुत से लोगों को देखा है, वे कहते फिरते हैं, हमें भगवान् के दर्शन हुए। यों भगवान् हमारे हाथ से रोटी खा गये, यों हमें दर्शन दिये। इनमें कुछ सच्चे और भोले भी होते हैं, किन्तु अधिकांश तो जनता को ठगने वाले और लोगों को फँसाकर पैसा और प्रतिष्ठा पैदा करने वाले ही होते हैं। सो मुनियो ! ऐसी भगवान् किसी पर कृपा कर भी दें, अनुग्रह करके दर्शन दे भी दें तो उसे यथा सामर्थ्य किसी पर प्रकट न करना चाहिये। इसीलिये भगवान् ने चलते समय अदिति को यह विशेष रूप से आज्ञा दी।

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन् ! इस प्रकार अदिति को वर तथा उपदेश देकर भगवान् वहीं पर तत्क्षण अन्तर्धान हो गये। इधर भगवान् से वर पाकर अदिति भी अपने को कृतकृत्य मानकर परम भक्ति भाव पूर्वक अपने पति भगवान् कश्यप की भगवत् बुद्धि से पूजा करने लगी। यह जानकर उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, कि परात्पर प्रभु मेरे गर्भ से अवतीर्ण होंगे। वे भगवान् के जन्म की बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगीं।

छप्पय

निजि महत्व कूँ त्यागि बनूँ लहुरो देवनि तें।
सब सुत बनिकें करूँ कपट छल इन दैत्यनि तें॥
कश्यप तपमय वीर्य माँहि हौं होहुँ अवस्थित।
पति परमेश्वर समुझि करो सेवा सब समुचित॥
काहू तें कहियो न जिह, यों मोतें प्रभु कहि गये।
यों देकें वरदान सिख, श्री हरिअन्तर्हित भये॥

वामन भगवान् का प्रादुर्भाव

(५५६)

इत्थं विरिञ्चस्तुतकर्मवीर्यः
प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम् ।
चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः
पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः ॥
(श्री भा० ८ स्क० १८ अ० १ श्लोक]

छप्पय

अदिति गर्भ में कछुक दिवस महँ हरि अज आये ।
दम्पति उर आनन्द भयो सुर सिद्ध सिहाये ॥
जानि गर्भगत विष्णु आइ विधि विनती कीन्हीं ।
शुभ मुहूर्त शुभ लग्न, स्वतः सब शिव करि दीन्हीं ॥
भादों शुक्ला द्वादशी, अभिजित युत अति दिन परम ।
अज अविनाशी अदिति घर, लीयो वामन बनि जनम ॥

भगवान् को कोई १२ दिन के व्रत से, महीने भर के उपवास से, लाख वर्षों की तपस्या से, या अनेक प्रकार के नियम

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जब ब्रह्माजी गर्भगत वामन भगवान् के कर्म और वीर्य की स्तुति कर चुके, तो जन्म मृत्यु से रहित वे कमल नयन भगवन् अपने चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए तथा पीताम्बर को धारण किये हुए अदिति के गर्भ से प्रादुर्भूत हुए ।

से चाहें, कि उन्हें अपना पुत्र बनालें, तो नहीं बना सकते। भगवान् तो भक्तवश्य हैं। वे तो स्वयं ही किसी पर कृपा करें स्वयं ही रीझ जायँ तो पुत्र, स्त्री, सेवक सब कुछ बन सकते हैं। भगवान् अमुक व्रत से, अमुक अनुष्ठान से प्रसन्न हो गये यह तो एक निमित्त मात्रा है। उन्हें जब लीला करनी होती है तो जिसे चाहते हैं उसे ही निमित्त बना लेतें हैं। वे नियमों से परे हैं, उनके कार्यों से ही नियम बनाये जाते हैं। जैसे भाषा के व्यवहार से ही व्याकरण की रचना होती है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! अदिति को वर देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। भगवती अदिति अपने पति कश्यप की सेवा करती हुई, भगवान् के जन्म की प्रतीक्षा करने लगी एक दिन भगवान् कश्यप ने देखा उनके शरीर में भगवान् का तेज प्रविष्ट हुआ है। समाधि के द्वारा तेज का अनुभव करके उन्होंने विधि विधान पूर्वक शुभ मुहूर्त में उस तेज को अदिति के उदर में स्थापित्त किया। अदिति के गर्भ में वह तेज शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। जैसे यज्ञों में जिन दो अरणियों को मथकर अग्नि प्रकट करते हैं, अग्नि कहीं बाहर से तो आता नहीं। पहिले ही उन लकड़ियों में व्याप्त है। किन्तु मन्थन से घनीभूत होकर प्रादुर्भूत हो जाती है, उसी प्रकार अदिति और कश्यप के संभोग से सर्वव्यापक प्रभु घनीभूत होकर अग्नि की भाँति प्राज्वल्यमान होकर प्रकट होने वाले हैं। अग्नि के प्रकट होने के पूर्व उन अरणियों से चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार देवी अदिति के अंगों में एक प्रकार की विचित्र ज्योति-सी विदित होने लगी। यद्यपि गर्भ के कारण उनक रंग पांडु वर्ण का हो गया था, तो भी जैसे पांडु वर्ण की चमेली अपनी शोभा से समस्त उपवन को

शोभित और सुगंधित कर देती है, उसी प्रकार उनकी शोभा भी अद्‌भुत हो गई। वे अब मंथरगति से चलने लगीं। भगवान् कश्यप अपनी प्रियतमा पत्नी को प्रसन्न करने के निमित्त उनसे बार बार पूछते—"प्रिये ! तुम्हारी क्या इच्छा है, पति का कर्तव्य है, गर्भवती स्त्री के समस्त मनोरथों को यथासाध्य पूर्ण करे। मुझे किसी वस्तु की कमी तो है नहीं। तुम जो भी कहो वही मँगा दूँ।

यह सुनकर अदिति लज्जा और संकोच के साथ कहती—"प्राणानाथ ? मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं आपकी कृपा की आवश्यकता है। आप मुझसे इतना स्नेह करते हैं यही मेरे, लिये सब कुछ है।" इस प्रकार अपने पति से तो कुछ न कहती, किन्तु अपनी सहेलियों से मांग लेती। किसी से कहती—"आज तुम्हारे यहाँ क्या बना है। तनिक मेरे लिये भी ले आना। भगवान् कश्यप को जब यह बात विदित हुई, तो उन्होंने समझ लिया यह गर्भ का लड़का भिखारी होगा, दूसरों से भीख माँगेगा।

अदिति से कोई सखी कुछ वस्तु उधार ले जाती तो वह दे देतीं, किन्तु लेते समय जिस बर्तन से दिया था, उससे न लेकर बड़े से लेती। सखी कुछ कहती तो कह देती मैं तो इसी से लूँगी। कश्यपजी को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने सोचा—"अरे, यह लड़का तो लोभी भी होगा। अदिति की गर्भावस्था में देखो वह बालकों की भाँति चलती है, बच्चों से बहुत बहुत प्यार करती है तब कश्यपजी ने सोचा इसके गर्भ में छोटा बच्चा होगा, किन्तु अवश्य ही खोटा होगा।" अदिति कभी-कभी छिपकर मिट्टी खा लेती। एक दिन कश्यपजी ने उसे देख लिया और बोले—"छिः छिः तुम इतने बड़े प्रजापति की पत्नी

होकर लौंनी वाली मिट्टी खाती हो, मेरे यहाँ कंद, मूल, फल, मेवा, मिठाई तथा पदार्थों की कुछ कमी थोड़े ही है जो चाहो सो खाओं मिट्टी क्यों खाती हो ?"

अत्यंत ही लजाते हुए अदिति ने कहा—"प्राणनाथ ! क्या बताऊँ, जब से मैं गर्भवती हुई हूँ, तब से न जाने क्यों मिट्टी खाने को मेरा चित्त बहुत है। सौंधी सौंधी मिट्टी बड़ी अच्छी लगती है, कच्चे घड़े के टुकड़े बड़े स्वादिष्ट लगते हैं तब कश्यपजी ने समझा—"अरे यह लड़का तो पृथिवी का लोभी होगा। अवश्य ही यह ठग विद्या करके पृथिवी का अपहरण करेगा।"

कश्यपजी ये सब बातें अपने मन में ही सोचते थे, अदिति को नहीं बताते थे। उन्होंने सोचा इससे ये बातें कहेंगे तो इसे क्लेश होगा। इस प्रकार दिन दिन देवी अदिति का गर्भ बढ़ने लगा। जैसे उदयाचल के गर्भ से बादलों को फाड़कर सूर्यनारायण उदित होकर जगत् को प्रकाशित करते हैं, वैसे ही भगवान् के प्रकट होने का समय सन्निकट आगया।

भाद्रपद शुक्ला द्वादशी का परम पावन दिन था। उस द्वादशी को श्रवण द्वादशी अथवा विजया द्वादशी भी कहते हैं, उस दिन अभिजित मुहूर्त था मध्याह्न के समय सभी ग्रह नक्षत्र योग कर्ण आदि मङ्गलमय बन गये थे। शुभग्रह उच्च स्थानों में अवस्थित थे। उसी समय भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय उनकी शोभा परम दर्शनीय थी। वे प्रथम साक्षात् चतुर्भुज विष्णु रूप में अवनि पर अवतरित हुए।

जब गर्भ में ही भगवान् थे तब नियमानुसार ब्रह्माजी गर्भ गत विष्णु की स्तुति करने आये। स्तुति करके ब्रह्माजी ज्योंही

गये, त्योंही वे अदितिरूपी प्राचीदिशि से सूर्य रूप श्यामसुन्दर उदित हुए। उस समय उनके चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित थे। अत्यंत सुन्दर सुवर्ण के समान पीताम्वर पहिने हुए थे। कानों में कनक कुंडलों की कांति से कपोल कुंद-कली के समान उल्लसित हो रहे थे। मुखकमल की मरंद मयी मनोहर आभा चारों ओर छिटक ही रही थी। वक्षस्थल में श्री वत्स और वनवाला करों में कंकण, कंठ में केयूर केशों पर कमनीय किरीट, कानों में कुंडलं तथा कटि में किंकणीयुत करधनी की लड़ियां तथा पगों मे नूपुर शोभायमान थे। तट के पुष्पों की दिव्य बनमाला के मकरंद के लोभी मत्त मधुप उनके ऊपर गुन गुन करके गुंजार कर रहे थे, मानों प्रभु प्राक्ट्य के अवसर पर मङ्गलगान कर रहे हों। वक्ष :स्थल में विराजमान हिलती हुई कौस्तुभ मणि कश्यप जी के घर के समस्त अंधकार को उसी प्रकार पान कर गई थी, जैसे अगस्त जी समस्त समुद्र के सलिल का पान कर गये थे। मङ्गलमयके मङ्गलजन्म के समय इस विषादपूर्ण जगत में सर्वत्र मङ्गल ही मङ्गल दृष्टि गोचर हो रहा था। वायु शीतलमन्द सुगंधित तथा सुखद स्पर्श युक्त होकर बह रही थी। आकाश निर्मल था। जलाशयों के गँदले जल स्वच्छ हो गये थे। सभी प्राणियों के हृदयों में एक अव्यक्त उल्लास सा प्रतीत हो रहा था। सभी ऋतुएँ मूर्तिमती होकर भगवान् का स्वागत करने को प्रस्तुत हुई। स्वर्ग का अधिष्ठातृ देव स्वयं प्रसन्न हुआ। पृथ्वी गौ रूप रखकर नृत्य करने लगी। देवताओं का हृदय कमल अपने आप ही विकसित हो गया, सिद्धगण अन्तरिक्ष में आनन्द मनाने लगे। पर्वत हरे भरे हो गये, उन परके वृक्ष बिना ऋतु के भी फलने और फूलने लगे। गौरूपा पृथ्वी के नृत्य करने पर अन्य

कामधेनु प्रभृति गौएँ स्वयं उनकी तान में तान मिलाने लगीं। गन्धर्व गाने लगे, देवता बाजे बजाने लगे। अप्सरायें भी पृथ्वी की ताल में ताल मिलाकर नाचने लगीं शङ्ख दुंदुभि, मृदङ्ग, पणव तथा पखावज आदि बाजे अपने आप बिना बजाये बजने लगे। मुनि, देव, मनु, सिद्धगण, पितृगण, मरुद्-गण, अग्निदेव, तथा अन्यान्य देव सभी भगवान् की स्तुति करने लगे। आकाशचारी देवगण कल्पवृक्ष के पुष्पों की अपने अपने विमानों से अदिति के भवन पर वृष्टि करने लगे। सिद्ध, विद्याधर, किंपुरुष, किन्नर, चारण, प्रेत, भूत, पिशाच, पक्षी तथा यक्षराक्षस सभी आनन्द के उल्लास में गाते गाते नाचने लगे।

भगवती अदिति ने जब अपने सम्मुख चतुर्भुज भगवान् को देखा तब वे कुछ सहम गईं। आश्चर्य चकित और आनन्दित हुईं माता किंकर्तव्य विमूढ़ा बनी बैठी की बैठी ही रह गईं। वे अपने कर्तव्य को स्थिर ही न कर सकीं! प्रजापति भगवान् कश्यप ने भी उन परात्पर प्रभु के दर्शन किये और भगवान् की जय हो जय हो, इस प्रकार कहकर जय जयकार किया। भगवान् ने देखा यहां तो लीला ही दूसरी हो रहा है। जन्मवाली बात तो रही नहीं। ये मुझे पुत्र तो मान नहीं रहे हैं। यह सोचकर तुरन्त अपने समस्त अस्त्र आयुध, तथा भूषण बस्त्र छिपा लिये और वे बौने बन गये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! उस बौने बालक को देखकर माता-पिता को बड़ा हर्ष हुआ और उनके जाति कर्म आदि संस्कार कराये।

छप्पय

रूप चतुर्भुज गदा शङ्ख चक्रादिक धारे ।
सुन्दरश्याम शरीर कमल मुख कच घुँघुरारे ।।
कर कंकन गल माल करधनी कटि महँ सोहे ।
मणि मुक्ता म मुकुट मुनिनि के मनकूँ मोहे ।।
दर्शन करि कश्यप अदिति, सहसा भौचक्के भये ।
लीलामहँ व्याधा लखी, पुनि बालन वटु वनि गये ।।



भगवान् वटु वामन का उपनयन

(५५७)

तं वटुं वामनं दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः ।
कर्माणि कारयामासुः पुरस्कृत्य प्रजापतिम् ॥

(श्री भा० ८ स्क० १८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

जाति कर्म संस्कार भये पुनि वामन बाढ़े ।
घुटुअन के बल चलैं लगे पुनि ह्वै वे ठाढ़े ॥
पाँच बरस के भये पिता उपनयन करायो ।
रवि सावित्री दई जनेऊ गुरु पहिनायो ॥
कश्यप दीन्हीं मेखला, अजिन अवनि उत्तम दयो ।
माता तैं कोपीनपट, दण्ड चन्द्रमा तैं लयो ॥

जिनका जीवन जनता की सेवा के लिये है, जो सार्व-जनिक सुख दुख को दृष्टि कोण में रखकर जीवन यापन करते हैं, जो लोकहितार्थ कार्य करते हैं, उनकी सहायता करना उन्हें सुख सुविधायें पहुँचाना सभी का कर्तव्य है। प्राचीन प्रथा थी चाहें भिक्षुक ब्राह्मण हो अथवा चक्रवर्ती सम्राट् दोनों

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! उस वामन वटु को देख कर सभी ऋषि महर्षि अति आनन्दित हुए और उन सबने कश्यप जी को आगे करके सब संस्कार कराये ।

ही अपने पुत्रों को गुरु गृह में छोड़ आते थे। वहाँ वे दोनों ही एक समान रहते। दोनों ही घर घर से भिक्षा माँगने जाते, दोनों ही भिक्षा लाकर गुरु को अर्पण कर देते, गुरु जो दे देते उसी पर अपना निर्वाह करते। घर में चाहे वे कैसा भी सुन्दर भोजन करते हों, किन्तु यहाँ उन्हें भिक्षा से प्राप्त अन्न पर ही निर्वाह करना पड़ेगा। सब घरों को अपना घर मानना पड़ेगा। सभी माताओं को उन सब पर समान अधिकार है। उनका भी पुत्र तो इसी प्रकार गुरुकुल में रहकर भिक्षा माँग रहा होगा। इस प्रकार व्यष्ठि जीवन को समष्टि बनाना ही आर्य धर्म का लक्ष्य है। उसी पूर्ति के लिये वर्णाश्रम धर्म है और षोड़श संस्कारों की प्रथा है। इन सब संस्कारों में सर्वश्रेष्ठ संस्कार है उपनयन संस्कार द्विजाति के बालकों का यह दूसरा जन्म ही माना जाता है। इसीलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों की द्विज संज्ञा है। जिसका उपनयन नहीं हुआ गुरु के समीप ले जाकर जिसे वेद माता गायत्री की दीक्षा प्राप्त नहीं हुई। वह द्विज नहीं कहला सकता। बालक को गुरु के, उसके समीप प्राप्त कराने का ही नाम उपनयन कर्म है।

श्रीशुकदेजी कहते—"राजन् ! अबतो वामन भगवान् कुछ बड़े हुए। शरीर से बड़े नहीं हुए। जब छोटे बनने के ही संकल्प से प्रकट हुए हैं तो वढ़ कैसे सकते हैं। किन्तु अवस्था तो बढ़ी ही। बौने जितने बढ़ सकते हैं उतने बढ़े। अब कश्यप भगवान् को उनके यज्ञोपवीत संस्कार की चिन्ता हुई वर्ष के होने पर कश्यप जी ने सब स्नेही, सम्बन्धी, कुटुम्ब परिवार के लोगों को निमन्त्रण दिया। वामन भगवान् प्रभाव को तो सब सुन ही चुके थे, इन्द्र वरुण, कुबेर, आदि समस्त देवता वामन प्रभु के यज्ञोपवीत संस्कर में एकत्रि

हुए। सबको यही हर्ष था हमारा छोटा भाई है, चलो उनका संस्कार तो देखें। देवताओं के गुरु बृहस्पति जो भी अपने पोथी पत्रा बांधकर आचार्य का काम करने के लिये उपस्थित हुए। बहुत सुन्दर संस्कार के लिये मण्डप बनाया गया। पहिले दिन देवगुरु बृहस्पति ने कश्यप जी से मातृ का पूजन नान्दीमुख श्राद्ध आदि मङ्गल कृत्य कराये। दूसरे दिन देवताओं का ऋषियों का समाज एकत्रित हुआ। बहुत से वेदाध्ययन कराने वाले ब्रह्मचारी भी आये। वे अपने आचार्यों के सहित ऐसे प्रदीप्त हो रहे थे मानों चन्द्रमा के आस पास नक्षत्र चमक रहे हों। देवता ऋषि मुनि तथा अन्याय उपदेवों का वहाँ अद्भुत समारोह हुआ।

पहिले बटु वामन को ब्राह्मण ब्रह्मचारियों के साथ भोजन कराया गया। तदुपरान्त उनका और कर्म हुआ। फिर स्नान करके वे मन्डप में लाये गये। अब उन्हें ब्रह्मचारी बनाना था। अब तक जो बालकपन के वस्त्र पहिनते थे उनका परित्याग कराना था। अब तो उन्हें ब्रह्मचारियों का सा वेष बनाना है, नियम से रहना है, अतः माता अदिति ने उन्हें एक कौपीन और एक ओढ़ने को कन्था प्रदान की। वामन भगवान् तो सभी के हैं। सभी को उन्हें कुछ न कुछ देना चाहिये। सबके आशीर्वाद जनित तेज को पाकर ही वे सुरकार्य करने में समर्थ होंगे। या यों कहिये अपने बिखरे तेज को एकत्रित करके वे देवताओं को विजय श्री प्रदान करेंगे। माता की दी हुई कौपीन बटुवामन को पहिनाई गई। कश्यपजी ने एक सुन्दर सी मेखला स्वयं बनाकर दी। वह बालक वामन को कटि में पहिनाई गई। साक्षात् पृथिवी देवी ने कृष्ण मृगचर्म उन्हें दिया। चन्द्रमा ने पलास का सुन्दर दण्ड लाकर

वामन भगवान् को धारण कराया। ब्रह्माजी ने जल रखने को एक सुन्दर कमण्डलु दिया। सप्तर्षियों ने कुशाओं का मूँठा (ब्रह्मदण्ड) और पहिनने को पवित्री दी। सरस्वती देवी ने एक रुद्राक्ष को सुन्दर माला लाकर उनके नन्हें से गले में डाल दी। इस प्रकार ब्रह्मचारियों के योग्य सभी वस्तुओं को पाकर और उन्हें धारण करके वामन भगवान् ब्रह्मचारी वेष में बड़े ही सुन्दर प्रतीत होने लगे। बृहस्पतिजी स्वयं यज्ञोपवीत बनाकर लाये थे। अक्षत पूर्ण पात्रों में ८ यज्ञोपवीत तथा दक्षिणा रखकर ब्राह्मणों को दान दिया। पुनः सप्तर्षियों की सहायता से बृहस्पति जी ने वटुवामन के गले में यज्ञोपवीत पहिनाया। तब वे कौपीन पहिनकर हाथ में दंड कमन्डलु धारण करके बगल में मृगचर्म दबाकर, कन्धे पर कंथा डालकर ब्रह्मचारियों की भाँति इठलाते हुए सबको अपने बालचापल्य से प्रसन्न बनाते हुए यज्ञकुन्ड के समीप आये। उपनयन संस्कार के लिये स्थापित प्रज्वलित अग्नि का परिसमूहन परिस्तरण और पूजन कराके उसमें समिधाओं से हवन किया। गौ के गोबर के कंडों की आहुतियां दीं। तब उनके बड़े भाई साक्षात् सविता देवता ने उन्हें गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया। बृहस्पति जी ने ब्रह्मचारियों के नियम बताये। अब तो वामन भगवान् साक्षात् वटु ब्रह्मचारी बन गये। सब संस्कार होने के अनन्तर भिक्षा की बारी आई। यज्ञपति कुबेर ने उन्हें एक भिक्षा माँगने का पात्र दिया। उसे लेकर वामन वटु भिक्षा माँगने चले। नन्हें से वटु वामन भगवान्, वस्तुएँ होगईं बहुत। कभी मृगचर्म खिसक जाना, कभी कंथा ही कंधे से गिर जाती। कभी कमंडलु में पानी ही छुलक करके छलक जाता, कभी करधनी ही ढीली हो जाती, कभी छतरी ही गिर जाती, कभी भिक्षा का पात्र झुक जाता तो हाथ के

कुशाओं के मूंठा को ही सम्हालते। सभी समागत स्त्री, पुरुष बालक की इन बातों से हँस पड़ते, वटु वामन उन सबको उठाते धरते, सम्हालते हुए चल रहे थे। अब वे भीख माँगने की शिक्षा पाने लगे। शिक्षित तो पेट में से ही थे उसका अभ्यास करने लगे। सर्वप्रथम वे सतीशिरोमणि सक्षात् जगदम्बिका भगवती उमादेवी के समीप भिक्षा माँगने गये। अन्नपूर्णा देवी ने उनके पूर्ण पात्र को पूर्ण कर दिया। किन्तु ये तो जन्म के लोभी ठहरे, इनकी तृप्ति कहाँ! सबसे उन्होंने भीख माँगी। सभी ने अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार भिक्षा दी। किन्तु लोभी की कभी तृप्ति नहीं होती। उसका तो लाभ से अधिकाधिक लोभ ही बढ़ता जाता है। सबसे भिक्षा लेकर वामन भगवान् ने देवताओं के गुरु बृहस्पति को दी।

बृहस्पति जी ने मुसकराकर कहा—"बौने वामन! इस भिक्षा से देवताओं का तथा मेरा क्या काम चलेगा। कुछ ऐसी भिक्षा लाकर दो, कि कुछ दिन हम सब का निर्वाह हो।"

यह सुनते ही बामन दन्ड कमन्डलु उठाकर शीघ्रता से बोले—मैं तो काशी जाऊँगा। काश्मीर जाऊँगा।"

हँसकर देवगुरु ने कहा—"काशी काश्मीर में क्या रखा है। वहाँ जो विद्या है, उसे तो हम यहीं पढ़ा देंगे, अथवा तुम्हें उसकी आवश्यकता ही क्या? कुछ भिक्षा लाओ।"

वामनवटु बोले—"अब इन कंगाल देवता और ऋषियों से क्या माँगना। किसी उदार महादानी का नाम बताओ, जिससे याचना करने पर कुछ प्राप्त हो।

इस पर देवताओं के गुरु बृहस्पति ने कहा—"इस समय तीनों लोकों में महाराज बलि के समान कोई भी दानी और

मनस्वी नहीं है। उनके समीप जाकर कोई भी याचक विमु और निराश नहीं लौटता।

वामनवटु अनजान की भाँति बोले—"महाराज ! बलि इ समय कहाँ है ? वह कहाँ रहता है ?"

बृहस्पति जी ने कहा—रहने को तो वह तीनों लोकों स्वामी है, स्वर्ग में उसका प्रधान स्थान है, किन्तु इस सम वह यज्ञ कर रहा है।'

वामन भगवान् ने पूछा—"कहाँ यज्ञ कर रहा है ? कौन यज्ञ कर रहा है ?

बृहस्पति जी ने कहा—"वह नर्मदा नदी के उत्तरीय भृगुकक्ष नामक क्षेत्र में समस्त यज्ञों में श्रेष्ठ अश्वमेध कर रहा है। उसके पुरोहित भृगुवंशी ब्राह्मणों ने उसे पद स्थायित्व करने के निमित्त १०० अश्वमेध यज्ञों की दीक्षा रखी है। ९९ अश्वमेध यज्ञ तो हो गये हैं यह १०० वाँ अश्व है। यदि यह पूरा हो गया, तब वह स्थाई इन्द्र बन जाय इसलिये वह याचकों को यथेष्ठ दान देता है, उससे जो ब्राह्मण जाकर जिस वस्तु की भी याचना करता है, उसे वही वस्तु देता है।

वामन वटु बोले—"अच्छी बात है उससे भिक्षा माँ चलें। हमें यदि वह दे दे तभी तो उसके ९९ अश्वमेध हो सकते हैं। हमारी ही इच्छा पूर्ण न कर सका तो उसके अश्वमेध कैसे पूर्ण होंगे।"

देव गुरु बृहस्पति ने मन ही मन सोचा—लोभी की कोई इच्छा पूरी नहीं कर सकता। वह तो थोड़ा माँगकर

फैला देता है। साधुपाद प्रक्षरण न्याय से जहां लोभी को कुछ लाभ हुआ, कि उसकी तृष्णा और भी बढ़ती जाती है। प्रकट में बृहस्पति जी बोले—"अच्छी बात है ब्रह्मचारी जी महाराज! जाइये, बलि महाराज के यज्ञ में। आप जैसे भिक्षुक जिसके द्वार पर पहुँच जायँ उसका अपूर्ण यज्ञ भी पूर्ण ही हो जायगा. जाइये, भृगुकच्छ (भड़ौच) की ओर प्रस्थान कीजिये।"

वामन भगवान् बोले—"गुरुजी! मैं तो वहाँ का मार्ग जानता नहीं। छोटा सा वामन बालक हूँ, आप मेरे साथ चलें।"

बृहस्पतिजी ने कहा—"अजी, महाराज! आप सब जानते हो! ब्रह्माण्ड आपके उदर में भरा हुआ है यद्यपि आपकी दाढ़ी बाहर नहीं निकली है, किन्तु आपके पेट में बढ़ी हुई दाढ़ी है। आप छोटे होकर भी खोटे हैं। चलिये, यज्ञ मंडप तक तो मैं आपको पहुँचा दूँगा। भीतर नहीं जाऊँगा। माँग जाँच आप लेना।"

वामन वटु बोले—"गुरुजी आप भीतर क्यों नहीं जायँगे। यज्ञ से आपको चिढ़ है क्या?"

बृहस्पतिजी ने कहा—"नहीं, महाराज! यज्ञ से चिढ़ करेंगे तो खायेंगे क्या? यज्ञ कराना तो हमारा काम ही है, किन्तु आप जानते ही हैं, एक व्यवसाई अपने दूसरे सहयोगी व्यवसाई से मन ही मन द्वेष रखता है। शुक्राचार्य असुरों के पुरोहित हैं, मैं सुरों का, इसलिये हम दोनों में कुछ खटपट रहती है।"

वामन भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है मार्ग ही दिखा दीजिये।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन ! यह सुनकर देवगुरु के साथ वामन भगवान् बलि के यज्ञ की ओर चल दिये ।

छप्पय

धन कुबेर ने दयो पात्र भिक्षा का भारी ।
माँ जगदम्बा उमा विहसि के भिक्षा डारी ।।
लोभी बामन बने लाभ तैं लोभ बढ़ायो ।
जग ठगिवे के हेतु कपट को वेष बनायो ।।
अश्वमेध नृप बलि करैं, चले ब्रह्मचारी सुनत ।
विश्व भार लादें अखिल, पृथिवी पग पग पै नमत ।।



बलि के यज्ञ में वामन भगवान् ।

(५५७)

श्रुत्वाश्वमेधैर्यजमानमूर्जितम्,
बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः ।
जगाम तत्राखिलसारसंभृतो,
भारेण गां सन्नमयत्पदेपदे ।
(श्री भा० ८ स्क० १८ अ० २ श्लो०)

छप्पय

दण्ड कमंडलु लिये ओढ़ि तन पै मृगछाला ।
पहिन मेखला मूंज चले बलि की मख शाला ॥
तेज पुंज जम लखे विप्रवामन व्रतधारी ।
सहसा सबई भये खड़े लखि वटु लट धारी ॥
भये प्रभावित विप्र गन, अधिक मोदमन बलि भयो ।
पद पखारि पुनि अर्घ्य दे, बैठन कूं आसन दयो ॥

जिस प्रकार कस्तूरी डिबिया में छिपाने से नहीं छिपती,

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! वामन भगवान् इस बात को सुनकर कि तीनों लोकों का ऐश्वर्य प्राप्त करके महाराज बलि भृगुवंशी ब्राह्मणों द्वारा अश्वमेध यज्ञ करा रहे हैं और उसके द्वारा भगवान् का पूजन कर रहे हैं, तो वे वटु वहाँ सर्वशक्ति समन्वित होकर अपने भार से पगपग पर पृथ्वी को नमाते हुये उसके यज्ञ में चले ।

सूर्य चन्द्रमा ग्रहण से सर्वथा नहीं छिपाये जा सकते गुदड़ी में लाल नहीं छिपाया जा सकता, मलिनता में सौन्दर्य नहीं छिपाया जा सकता, उसी प्रकार तेजस्वियों का तेज दीन और विकृत वेष बना लेने पर भी नहीं छिप सकता। बड़े यदि छोटों का वेष बना लें, तो वे और अधिक बड़े बन जाते हैं, उनकी शोभा और भी प्रभाव शालिनी बन जाती है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! जीव अपने स्वार्थ की बात तुरन्त सीख जाता है और जिससे अपना विशेष प्रयोजन नहीं उसे प्रयत्न करने पर भी नहीं सीख पाता। वटु वामन को अग्निहोत्र, गुरुपूजा, सत्य और सदाचार सम्बन्धी उपनयन के समय बहुत से उपदेश दिये गये थे, उनकी ओर तो उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया, किन्तु जब भीख मांगना सिखाया तो उसे उसी क्षण सीख गये और तृष्णा ऐसी बढ़ी कि साधारण आदमियों से भिक्षा माँगना उचित ही न समझा। चक्रवर्ती सम्राट् के समीप हाथ पसारने उससे माल मारने चल दिये। बने तो छोटे ही थे, किन्तु विश्व ब्रह्माण्ड जो पेट में भर रहे थे, वे कहाँ जायँ। जब वे अपने छोटे छोटे बौने पैरों को पृथिवी पर रखते तो जैसे हाथी के कारण नौका लच जाती है, डगमगा जाती है वैसे ही पृथिवी पग पग पर डगमगाने लगी। बौने वामन वटु बनके बलि को छलने चले।

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी भगवान बौने क्यों बने। वैसे ही साधारण ब्राह्मण बनकर बलि से याचना करते। बलि अन्य ब्राह्मणों को भी तो देता ही था, फिर इस प्रकार विकृत वेष बनाने का क्या कारण है ?

यह सुनकर सूत जी बोले—"महाराज ! इसे तो वे ही

सर्वज्ञ, समर्थ, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी श्यामसुन्दर ही जाने। उनकी लीला अपरम्पार है, प्राणियों के लिये उसका पार पाना अत्यन्त ही दुष्वार है। फिर भी वामन होने के कई कारण प्रतीत होते हैं।

पहिला कारण तो यह जान पड़ता है, कि भगवान शिक्षा दे रहे हैं कि देखो, भाई आँखें फाड़-फाड़ कर भली-भाँति देखलो। भीख माँगना सबसे छोटा कार्य है। मुझे सर्वेश्वर को भी भीख माँगने की आवश्यकता हुई, तो छोटा बनना पड़ा।

बौंने के हाथ पाँव आदि अङ्ग तो सभी पुरुषो की भाँति होते हैं, अन्तर इतना ही है कि अवस्था, बढने पर भी वह बढ़ता नहीं। कुछ थोड़ा सा बढ़कर ज्यों का त्यों ही गेंद सा बन जाता है। इससे भगवान् यह शिक्षा दे रहे हैं, कि भिखारी कितना भी बढ़ जाय, फिर भी वह रहेगा छोटा का छोटा ही। सदा दूसरों के सम्मुख दीन होकर हाथ पसारना होगा, पेट दिखाना होगा।

तीसरा कारण यह जान पड़ता है कि यदि हम साधारण ब्राह्मण बनके जायँ, तो राजा इच्छानुसार कुछ न देगा। अब कुछ अधिक कहें, तो उसके सेवक कह सकते हैं कुछ परिश्रम करो क्यों हठ कर रहे हो। बौने बनकर चलेंगे तो राजा को दया आ जायगी मन माना दान देगा। समझेगा बेचारा बौना है चौथा कारण यह भी प्रतीत होता है कि इन्हें तो पृथिवी माँगनी है, सो भी पैरों से नापकर। सोचा, मेरे छोटे छोटे पैर देखकर कोई भी आपत्ति न करेगा। कह देंगे देदो इस बौंने ब्रह्मचारी को।

पाँचवाँ कारण यह भी जान पड़ता है, कि भिक्षुक का हृदय

सदा शंकित रहता है, वह निरन्तर धुकुर पुकुर करता रहता है, जाने दाता दे या न दे। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक दयामयी होती हैं, इसलिये वामन ब्रह्मचारी बने कि बच्चों का और ब्रह्मचारियों का सर्वत्र प्रवेश है, वे अन्तः पुर में भी बिना रोकटोक के जा सकते हैं और पुरुषों के यहाँ भी। इसीलिये भगवान् ने सोचा—"किसी के सिखाने पढ़ाने से राजा बलि ने आनाकानी की तो महारानी विन्ध्यावली के समीप जाकर उसके हृदय में दया का भाव संचार कर सकेंगे।

छटा कारण यह भी हो सकता है कि विचित्र वेष को देखकर सभी का ध्यान उस ओर आकर्षित होता है। मैं छोटा बन कर जाऊँगा, सभी मेरे रूप को देखकर चकित हो जायँगे, मेरी ओर आकर्षित होंगे जब मैं देवशास्त्र सम्मत युक्ति पूर्वक् बड़ी बड़ी बातें बताऊँगा, तो सभी विस्मयापन्न होकर कहेंगे, देखने में तो यह वामन बड़ा छोटा प्रतीत होता था, किन्तु बातें बड़ी लम्बी चौड़ी कर रहा है। "छोटा मुहँ बड़ी बात।" व्यापार में जैसे भी हो लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेना यह सब से श्रेष्ठ कला है। कुछ जड़ी बूटी बेचने वाले दो आदमियों को कुछ देकर झूठा झगड़ा अपनी दुकान के सामने कराते हैं। वे दोनों बुरी तरह चिल्लाते हैं, लड़ते हैं, झगड़ते हैं। बहुत से लोग कुतूहल वश वहाँ एकत्रित होजाते हैं। पूछते हैं—"क्या बात है, क्या बात है। तब वह वस्तु विक्रेता उन्हें शान्त कर देता है अपनी वस्तु बेचने लगता है। यह एक विज्ञापन का ढँग है। वामन भगवान् ने भी बौना वेष बनाकर अपने विज्ञापन को आकर्षित बना लिया था।

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"मुनियो ? भग-

वान् के बौने बनने के इस प्रकार अनेक कारण हो सकते हैं, सब का सार यह है कि राजा को छलने को माल मारने के लिये यह वेष बनाया था। कहावत है "दुनियाँ मारी मक्कर ते, रोटी खाई शक्कर ते।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! नर्मदा नदी के उत्तर तट पर भृगुकक्ष (भड़ौच) नामक क्षेत्र में—जहाँ महाराजबलि यज्ञ कर रहे थे वहाँ चलते चलते वामन भगवान् पहुंचे। दूर से ही लोगों ने देखा अग्निशिखा के समान जाज्वल्य मान एक तेजपुंज यज्ञ की ही ओर चला आ रहा है। सूर्य चन्द्र के समान प्रभावान् उन माया ाणवक हरि को देखकर सबके सब भौचक्के से रह गये। महाराज यज्ञ में उपस्थित ऋत्विज, यजमान और सदस्यगण सोचने लगे—"यह कौन है, जो यज्ञ की ही ओर चला आरहा है। सम्भव है अग्निदेव ही साकार स्वरूप बनाकर अग्निलोक से आरहे हों अथवा सूर्य देव ही यज्ञ दर्शन की इच्छा से आरहे हों? बहुत सम्भव है सदा ५, ६. वर्ष के हो बाल बने रहने वाले कुमारों में से परम तेजस्वी सनत् कुमार यज्ञ की प्रशंसा सुनकर आरहे हो? इस प्रकार यज्ञ कराने वाले भृगुवंशीय ब्राह्मण अपने शिष्यों, पुत्रों और साथियों से इस विषय पर तर्क वितर्क कर रहे थे, कि इतने ही में वामन भगवान् यज्ञ मण्डप के समीप आ ही तो पहुँचे। उनके विचित्र मनमोहक वेष को देखकर सभी के चित्त स्वतः ही उनकी ओर खिचने लगे। उस समय वटु वामन की शोभा दर्शनीय थी। छोटी सी पतलो कमर में मूंज की मोटी मेखला बाँधे हुए थे। एक कौपीन पहिने थे, कन्धे पर मोटा सा शुभ्र यज्ञोपवीत दूर से ही दिखाई दे रहा था। श्यामवर्ण के

सुन्दर तेजस्वी शरीर पर वे मृगचर्म ओढ़े हुए थे। एक हाथ में जल से भरा कमन्डलु था दूसरे में दर्शनीय दण्ड था। सिर पर छोटी छोटी ताम्रवर्ण की लटूरियाँ लटक रहीं थीं। बगल में छत्ता लगा था, कन्धे पर कन्था रखी थी। प्रतीत होता है, पथ के श्रम से श्रमित होने के कारण उन्हें ये सब इतनी वस्तुएं भार हो रही थीं। कभी कोई अपने स्थान से खिसक जाती, कभी कोई गिर जाती, कभी हिल जाती, कभी परस्पर में मिल जातीं, कभी टेढ़ी हो जातीं। उन सबको सम्हालते छोटे छोटे पैरों को बढ़ाते हुए बलि के यज्ञ मंडप में पहुंचे उनके अपरिमित अपरिछिन्न तेज को देखकर उनकी प्रभा से प्रभावित होकर सभी भृगुवंशी तथा अन्यान्य ब्राह्मण सहसा यन्त्र की भाँति बिना संकल्प के ही अपने आप से आप खड़े हो गये[1]। अग्नि कुंड की अग्नियाँ भी प्रज्वलित होकर कुन्ड से ऊपर उठकर भगवान् का स्वागत करने लगी। यज्ञ के यजमान महाराज बलि तो उस विचित्र ब्राह्मण के वेश को देखकर ऐसे मुग्ध हो गये, कि उन्होंने तो मन ही मन अपना सर्वस्व उनके चरणों में समर्पित कर दिया।

चारों ओर हल्ला मच गया, एक परम सुन्दर, कामदेव के समान, तेजस्वी तपस्वी ब्रह्मचारी यज्ञ मंडप में आये हैं। स्त्री पुरुषों के झुंड के झुंड इस बौने वटु को देखने लगे। उनके सम्पूर्ण अङ्ग उपाङ्ग उनके रूप के ही अनुरूप थे। अति मनोहर परम दर्शनीय उस ब्रह्मचारी को देखकर सभी आत्मविस्मृत से बन गये।

स्वयं यजमान महाराज बलि ने उठकर आगे आकर उनका स्वागत किया। सुवर्ण थाल में चरण धोये। विधिवत्

मन्त्र पढ़कर उन्हें अर्घ्यं दिया और अत्यन्त मनोहर गुदगुदा आसन उन्हें बैठने को दिया। वामन वटु ने अपना कमन्डलु एक ओर रख दिया, कन्था को कन्धे से उतार दिया मृगचर्म को सम्हाल कर दंड को कन्धे के सहारे रख कर वे सुखासन से बैठ गये। वामन के बैठ जाने पर बलि ने शास्त्रोक्त विधि से उन विचित्र अतिथि विप्र का पूजन किया। तुलसी चन्दन गन्ध मिश्रित जल से चरण धोये अर्घ्य आचमनीय देकर यज्ञोपवीत वस्त्र, गन्ध पुष्प, माला, धूप आदि नैवेद्य, फल दक्षिणा आदि समर्पित करके आरती की। मधुर विनीत वचनों से स्तुति की। पुनः उनके पुनीत पादोदक को श्रद्धा भक्ति सहित सिर पर चढ़ाया। अपने सम्पूर्ण घर में छिड़का मानों आज नर्मदा तट पर घर बैठे गङ्गाजी आ गईं। भृगुकच्छ में ही गङ्गा का नर्मदा से संगम हो गया। विष्णु के पादोदक का ही नाम तो गङ्गा है। देवाधिदेव चन्द्रशेखर वृषभध्वज भगवान् शङ्कर ने तभी तो भक्ति भाव से उसे सिर पर धारण किया था।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन्! योग्य अतिथि को अपनी यज्ञ में आये देखकर बलि के हर्ष का ठिकाना न रहा। वे अपने अपूर्व अतिथि को संतुष्ट करने के निमित्त कुछ पूछने को उद्यत हुए।

छप्पय

विधिवत पूजा करी हृदय फूले न समाये।
पादोदक सिर धारि पान कर अति हरषाये॥
रानी पुनि पुनि लखैं रूप पै बलि बलि जाईं।
चरनामृत करि पान कहैं गङ्गा घर आईं॥
तनु पुलकित मन मोदयुत, पात्र निरखि अतिशय मगन।
बहु स्वागत सतकार करि, दानी बलि बोले वचन॥

बलि और वामन।

(५५६)

यद् यद् बटो वांच्छसि तत्प्रतीच्छ मे
त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये ।
गां कांचनं गुणवद्धाम मृष्टम्,
तथान्नपेयमुत वा विप्रकन्याम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १८ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

कहो विप्रसुत कृपा दास पै कीन्हीं कैसे ।
है अति दुर्लभ दरश बिना कारण वटु ऐसे ॥
मेरे मन अनुमान आप कछु माँगन आये ।
किन्तु निरखि द्विज भीर बाल मन मँह सकुचाये॥
मम ढिंग कछु न अदेय है, शङ्का तजि द्विजवर ! कहहु ।
अन्न पान धन धान पट, जो इच्छा सोई गहहु ॥

मनस्वी पुरुषों के लिये संसार में सत्पात्र के लिये कोई

---

* महाराज बलि वामन भगवान् से कह रहे हैं—"हे वेटी ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि तुम कुछ मांगने की इच्छा से मेरे यहां आये हो। ब्राह्मण कुमार ही ठहरे। सो, तुम्हें जिस वस्तु की भी इच्छा हो वह मुझसे मांग लो। गौ चहिये, सुवर्ण चाहिये, सुन्दर सामग्री सहित घर द्वार, मधुर पवित्र सुस्वादु अन्न जल अथवा विवाह के लिये ब्राह्मण कन्या जो भी चाहिये मुझ से कहो।

वस्तु अदेय नहीं है। पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश ये पाँचों भूत भगवान् द्वारा निर्मित हैं। कोई चाहे हम एक पानी की विन्दु वनालें, तो वह नहीं बना सकता। भूतों को उत्पन्न करने की शक्ति तो भूत भावन भगवान् में ही है। ये संसार के जितने सुवर्ण, चाँदी, मणि माणिक्य, भवन, महल, बाग बगीचा उद्यान, फूल, वस्त्र, चन्दन, स्त्री, पुरुष, घोड़ा, हाथी, ऊँट, गौ भेड़ बकरी यावन्मात्र पदार्थ हैं सब पंचभूतों के संयोग से ही बने हैं। हमारा देह भी पंचभूतों का निर्मित है, एक दिन यह भी यहाँ का यहीं रह जायगा। जल कर सड़कर या विष्ठा बन कर यह भी पांचों भूतों में मिल जायगा। जब यह देह ही नश्वर है, तो इसके द्वारा उपार्जित या निर्मित पदार्थ अवि-नाशी कैसे हो सकते हैं ये सब भी एक दिन भूतों में मिल जायेंगे। इन नश्वर पदार्थों में स्वेच्छा पूर्वक ममत्व हटालेने से इन्हें सुत्पात्र को दान देने से यदि अविनाशी मिल जायँ तो ऐसे लाभप्रद व्यापार को कौन बुद्धिमान करना न चाहेगा। पात्र उसे कहते हैं जो पतन से बचावे अक्षत् पात्र में पानी, घी तैल भर दो। विना फूटे पात्र में रहने से वह गिरेगा नहीं उसका पतन न होगा। इसी प्रकार मनुष्य को पतन से बचाने वाले पतितपावन हरि ही हैं अतः सबसे श्रेष्ठ पात्र वे ही कहे गये हैं। जो बस्तु भगवान को अर्पण कर दी जाती है वह क्षयिष्णु होने पर भी अक्षय हो जाती है नाशवान् होने पर भी अविनाशी बन जाती हैं। अतः अपने सर्वस्वसत्पात्र स्वरूप श्री हरि को ही समर्पित कर देना चाहिये।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज बलि वामन भगवान् की पूजा कर चके, तब हाथ जोड़ कर

बोले—"ब्रह्मन् ! आपने इस दीन को दर्शन देकर बड़ी दया की। इस यज्ञ भूमि को अपनी रज से परम पावन बना दिया। मुझे सूझता नहीं, मैं किस प्रकार आपकी सेवा करूँ, क्या कह कर आपकी विनती करूँ।"

वामन वटु बोले—"राजन् ! हम किस योग्य हैं। भिक्षुक ब्राह्मण हैं आपका यश दिग दिगान्त में व्याप्त है आपकी प्रशंसा सुनकर जैसे अन्य सब दर्शक आते हैं वैसे ही आपका यज्ञ देखने हम भी चले आये।"

विनीत भाव से बलि ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं आपको अन्य साधारण दर्शकों की भाँति नहीं मानता। मैं तो आपको मनुष्य मानता ही नहीं। मेरा तो अनुमान है कि समस्त राजर्षि ब्रह्मर्षि तथा तपस्वियों का तप मूर्तिमान होकर मेरे मख को कृतार्थ करने यहाँ आया है।"

वामन वटु बोले—राजन् ! आप धर्मात्मा हैं अतिथि का किस प्रकार भगवत् बुद्धि से सत्कार करना चाहिए इस बात को आप जानते हैं, इसीलिये आप ऐसी शिष्टाचार की बातें कह रहे हैं ? अच्छी बात है, शिष्टाचार हो गया अब अपना कार्य करो। देवता, ऋषि, पितर इनका तर्पण करो, यज्ञ हवन करके पुण्य प्राप्त करो।"

यह सुनकर बलि बोले—"भगवन् ! जब आप के देव दुर्लभ दर्शन इस दीन हीन को हो गये, तब भी कोई कर्तव्य शेष रह गया क्या ? मेरा तो ऐसा विचार है कि आपके पवित्र पादों का प्रेम पूर्वक प्रक्षालन करने से मेरे सभी पाप नष्ट हो

गये। मैंने समस्त विधिवत् किये यज्ञों का फल प्राप्त कर लिया। आपके चरणामृत को पान करके तथा श्रद्धा सहित सिर पर धारण करके मानों मैंने आज सभी पवित्र तीर्थों में स्नान कर लिया। मैंने समस्त देवता, ऋषि और पितरों को सन्तुष्ट कर लिया। इन कोमल कमल दल के सरिस आपके इन नन्हें नन्हें पगों के पड़ने से यह पृथिवी पावन बन गई। आपने मेरे ऊपर अत्यन्त अनुग्रह की। मैं आप से एक बात पूछना चाहता हूं, किन्तु पूछने में कुछ संकोच हो रहा है।

वटु वामन बोले—"नहीं, राजन्! संकोच करने की कौन सी बात है, आपको जो पूछना हो, वह निःशंक होकर पूछिये।"

बलि बोले—"ब्रह्मन्! मुझे कुछ ऐसा प्रतीत होता है, कि कुछ मुझसे याचना करने आये हैं।

हँसकर वटु वामन बोले—"महाराज! आपने कैसे जाना?"

बलि ने विनीत भाव से कहा—"भगवन्! मुझे निश्चय तो है, नहीं, फिर भी मेरा अनुमान है कि आप किसी प्रयोजन को लेकर आये है। एक तो आपका यह ब्राह्मण वेश ही कह रहा है। ब्राह्मण भिक्षुक होकर ही जन्म लेता है। उसे सांसारिक प्रपञ्च से तो प्रयोजन ही नहीं, वह किसी के यहाँ जायगा भी तो कुछ माँगने ही जायगा। दूसरे आपने यह ब्रह्मचारी का वेष बना रखा है। ब्रह्मचारी को अपने नित्य कर्म और अध्ययन से ही अवकाश नहीं, वह किसी गृहस्थी के यहाँ जायगा तो किसी आवश्यक वस्तु के ही लिये जायगा। दूसरे

ब्राह्मणों की आजीविका ही हैं, अध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना है । यज्ञ उत्सव में ब्राह्मण कुछ आशा से ही जायगा। इन्हीं सब कारणों से मैंने अनुमान लगा लिया है, कि आप कोई आवश्यक वस्तु माँगने आये हैं ? क्यों, मेरा अनुमान असत्य तो नहीं है ?"

राजा के ऐसे प्रश्न को सुनकर भिखारी वामन कुछ लज्जित से हो गये। लज्जा और दीनता युक्त मुसकान के सहित संकेत में उन्होंने इस अनुमान की सत्यता को स्वीकार कर लिया।

महाराज बलि तो उनके तप तेज, सुन्दरता तथा सरलता पर प्रथम ही लट्टू हो रहे थे। अब उनकी लज्जा युक्त मुसकान से उनका साहस और बढ़ा, वे बोले—"ब्रह्मन् ! देखिये लज्जा करने की तो कोई बात नहीं। आप ब्रह्मचारी हैं सत्पात्र हैं मेरा अहोभाग्य है, कि आप जैसे सत्पात्र मुझे गौरवान्वित करने के निमित्त मुझ से कुछ याचना करने आये हैं। आप ब्राह्मणों की कृपा से मेरे यहाँ किसी वस्तु की कमी तो है ही नहीं। आप जो भी मुझसे माँगना चाहें माँगलें। यदि आप राज्य माँगेंगे तो मैं राज्य भी दे दूँगा।"

हँसकर वामन बोले—"राजन् ! मैं छोटा सा बच्चा राज्य को क्या करूँगा ?"

बलि ने कहा—"तो, जो भी इच्छा हो, वही बताइये। आप छोटे से वटु ब्रह्मचारी हैं। बच्चों को दूध बहुत प्रिय है यदि आपको दूध पीने के लिये गौ की आवश्यकता हो तो एक दो, दश बीस, पचास सौ, हजार पांच सौ लाख दो लाख जितनी भी गौओं की आवश्यकता हो, उतनी सुन्दर से सुन्दर हाल की व्यायी, सूधी अधिक दूधवाली गौएँ मँगादूँ ?'

वामन बोले—"अजी, महाराज! गौओं को मैं कहां लेता फिरूँगा? आप देखते नहीं कितना सा छोटा हूं, अपना शरीर ही लेकर चलना भारी हो रहा है।"

बलि राजा—बड़े उत्साह से बोले—"अच्छी बात है, गौ न सही। आप जितना चाहें उतना सुवर्ण ले लें। अपने पास सुवर्ण हो, तो सब सामिग्रियां अपने आप ही आ जाती हैं। भोजन मंगालो, वस्त्र मंगालो। दूध मलाई, रबड़ी खुरचन पेड़ा बरफी सब पैसों से आ सकती हैं। पैसे वाले के पास बड़े से बड़े गुणी, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पंडित उत्तम से उत्तम कलाकार आते ही रहते हैं। समस्त गुण आकर कांचन में ही निवास करते हैं, अतः आप यथेच्छ सोना मांग लीजिये।"

वामन बोले—"अजी, महाराज! सुवर्ण को कहाँ बांधे फिरूँगा। सुवर्ण के आते ही व्यवहार में असत्यता आ जाती है, धन मद बढ़ जाता है, उसमें अत्यन्त आसक्ति हो जाती है, धनी लोगों को दया नहीं रहती रजोगुण बढ़ जाता है और सब से वैर हो जाता है। सभी उसे मारकर उससे धन छीनने की घात में रहते हैं।"

इस पर बलि बोले—"अच्छी बात है सुवर्ण न लें। मैं आपको एक सुन्दर से सुन्दर भवन दिला दूँ। जिनमें गुदगुदे गद्दे बिछे हों, सुवर्ण के पलंग पड़े हों सुन्दर से सुन्दर स्वच्छ सफेद वस्त्र टँगे हों, अन्नों के कोठे भरे हों, सभी पदार्थ रखे हों। खाने के लिये लेह्य, चोस्य, भक्ष्य भोज्य और पेय पदार्थ यथेष्ट रखे हों। पीने को उत्तम से उत्तम पदार्थ रखे हों। ऐसा सर्व सम्पत्ति युक्त सब सामग्रियों से सम्पन्न भवन प्रदान

कर दूँ।" तुम कह सकते हो मेरा तो अभी विवाह ही नहीं हुआ। गृहणी के बिना घर कैसा ? ईंट पत्थर के बने घर को घर नहीं कहते न ऐसे घरों में रहने वाले घर वाले कहाते हैं यदि ऐसे लोग घर वाले कहावें, तो ये बढ़ी बढ़ी दाड़ी जटा वाले बाबाजी भी तो घरों में ही रहते हैं। ये तो गृही नहीं कहाते। गृहिणोवाला घर ही वास्तव में गृह है। यदि ऐसी बात है और तुम्हें विवाह की इच्छा हो, तो जैसे बौने आप हो ऐसी ही एक बौंनटी किसी ब्राह्मण की कन्या को खोजकर उसके साथ तुम्हारा विवाह करा दूँ। तुम्हें ब्रह्मचारी से अभी गृहस्थी बना दूँ। दो पाद से चतुष्पाद करा दूं। निर्वाह के लिये गाँव चाहिये गांव दिलवा दूँ, घोड़े कहो तो घोड़े तुम्हारे घर के सम्मुख बँधवा दूं। हाथी कहो हाथी भेजवा दूं। रथ कहो तो सुन्दर सुवर्ण मण्डित रथ दिलवा दूं जिनमें बैठकर तुम अपनी बौंनटी दुलहिन के साथ सुख पूर्वक घूमते--फिरते रहना। इन सब वस्तुओं के अतिरिक्त आपको और भी जो मांगना हो संकोच छोड़कर मांग लीजिये। कृपण पुरुषों से मांगने में लज्जा आती है। जो स्वयं सब कुछ श्रद्धा सहित देने को समुत्सुक है उससे मांगने में लज्जा करना व्यर्थ है।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब वामन भगवान् ने देखा। कि राजा सब प्रकार से हमारे अनुकूल है और सब कुछ देने को उत्सुक है, तो उसे और अधिक दृढ़ करने के लिये उसे वचनों में कसकर वांधने के लिये वे ठगिया कपट वेष बनाये हुए ब्राह्मण देवता उनसे कहने लगे। उन्हें क्या चाहिये इस बात को सीधे न कहकर बड़ी भूमिका बांधकर लगाव लपेट के साथ कहने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

चाहो मनहर महल गुदगुदी सुखकर शैया।
अथवा गज रथ अश्व दूध की सूधी गैया॥
या जस बौंने आप बौनटी दुलहिन चाहो।
अबई करूँ विवाह न मन महँ बटु सकुचाओ॥
बहु सम्पति युत ग्राम अरू, जो चाहो सोई कहहु।
अथवा मेरे महल महँ, भूपति बनि द्विजवर रहहु॥



वामन द्वारा बलि के कुल की प्रशंसा

(५६०)

वचस्तवैतज्जनदेव सूनृतम्
कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम्।
यस्य प्रमाणं भृगवः सांपराये
पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० २ श्लोक)

छप्पय

सुनि नृप बलि की बात विप्र कपटी सुख पायो।
असुर फँसावन हेतु कपट को जाल बिछायो॥
बूढ़े बाबा सरिस कहें—बलि ! तुम बड़ भागी।
च्यौं न होहि अस शील जहाँ भार्गव गुरु त्यागी॥
पिता विरोचन विप्रहित, प्रान दये प्रन तज्यो नहि।
भये भक्त प्रह्लाद नर हरि, प्रकटाये कष्ट सहि॥

नीति और युक्ति पूर्वक किये हुए कार्य ही भली प्रकार सिद्ध होते हैं। जैसे सब कामों में युक्ति होती है वैसे ही भीख माँगने की भी युक्ति होती है। लोग तो कहते हैं—"अजी, इससे

---

* वामन भगवान् महाराज बलि से कह रहे हैं—"हे नरदेव ! आप के ऐसे मधुर धर्म युक्त तथा यश को बढ़ाने वाले वचन आपके कुल के अनुरूप ही हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि भृगुपुत्र शुक्राचार्य आपके पारलौकिक कार्य करने वाले हैं आपके पितामह प्रलादजी का शान्तिमय व्यक्तित्व विश्वविदित है।

कुछ काम नहीं होगा, भीख भले ही माँग खाय।" इससे सिद्ध होता है भीख माँगना सबसे सरल काम है। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। भीख मांगना बहुत कठिन काम है, दूसरे के हृदय में दया का संचार करके उससे परिश्रस से कमाये हुए पैसे को निकाल लेना सरल काम नहीं है। इसके लिये भी बुद्धिमानी और युक्ति चाहिये। भिक्षुक को सबसे पहिला काम तो यह करना चाहिए कि अपना वेष ऐसा बनावे कि दाता के ऊपार प्रभाव पड़े। उसके वेष को देखते ही वह समझ जाय कि वास्तविक रूप में इसे धन की आवश्यकता है। इसी लिये बहुत से भिखारी गेरू लगाकर पट्टी बाँध कर अपने शरीर में कृत्रिम घाव दिखाते हैं। बहुत से एक पैर को पृथिवी में गाढ़ कर उसके स्थान में काठ का पैर लगा कर अपने को लँगड़ा दिखाते हैं बहुत से एक हाथ को कुर्ते में छिपाकर उसके स्थान पर काठ का छोटा कृत्रिम हाथ लगाकर अपको लूला सिद्ध करते हैं, कोई आँख रहते हुए भी अन्धे होने का अभिनय करते हैं। बहुत सी स्त्रियाँ कृत्रिम बच्चे बनाकर या किसी के दूसरे बच्चे को लेकर तुरन्त बच्चा पैदा करने वाली सिद्ध करती हैं। सांराश यह है, कि जिस प्रकार भी दाता के हृदय में देने की भावना हो वैसा ही वेष भिक्षुक को बनाना चाहिये। जहाँ पन्डित बनने से काम चले वहाँ पन्डितों का सा वेष बना ले। वेष का मनुष्य पर तुरन्त प्रभाव पड़ता है। स्वभाव तो सहवास से जाना जाता है। इसीलिये भगवान् ने दयनीय बौने ब्रह्मचारी ब्राह्मण का वेष बनाया।

दूसरी बात यह भिखारी को ध्यान रखनी चाहिये कि वह इस बात को पहिले ही पूछले इनके यहाँ किनकी चलती है, दाता किनको बहुत मानता है। जिसका सबसे अधिक बोल-

वाला हो उसकी जाकर प्रशंसा करनी चाहिए। उसे सबसे श्रेष्ठ गुणी बताना चाहिये। तीसरी बात यह कि दाता के वंश के लोगों की चाहे पहिले निर्धन और भिखारी ही क्यों न रहे हों, राक्षसों की भाँति क्रूर ही क्यों रहे हों। उनकी अत्यधिक बढ़ चढ़ कर प्रशंसा करनी चाहिये, जिससे उसे कुलीनती का अभिमान जागृत होजाय। चौथी बात यह है, कि स्वयं दाता की मधुर शब्दों में उनके छोटे छोटे कर्मों को वढ़ा चढ़ा कर प्रशंसा करनी चाहियें। कि ऐसे कार्यों को दूसरा कौन कर सकता है। पाँचवीं बात यह कि तुरन्त जाते ही अपना अभिप्राय नहीं कह देना चाहिये कि हमें इस वस्तु की आवश्यकता है। बड़ी भूमिका बाँधकर अन्त में प्रसंग आने पर सरलता के साथ अपनी आवश्यकता कहनी चाहिये। पहिले यह सिद्ध करदे कि इस वस्तु की मुझे नितान्त आवश्यकता है, यदि अन्यत्र कहीं मिलती तो मैं कभी आपको कष्ट न देता।

छटी बात यह कि आरंभ से ही लोभ न करना चाहिए अपनी निस्पृहता ऐसे सिद्ध करनी चाहिए कि हमें इस वस्तु की आवश्यकता न होती, ता हम कभी भी मांगने न आते। अपनी त्याग वृत्ति दिखाकर दाता को अपनी ओर आकर्षित कर लेना चाहिये। इन सब बातों को रख कर जो याचक दानी उदार पुरुषों से याचना करेगा, तो उसकी याचना कभी विफल नहीं होने की। अच्छे भिक्षुक को यथा शक्ति कृपण से कभी भी याचना न करनी चाहिए। कृपण यदि दे भी देगा, तो दस जगह अपयश करेगा, और श्रेष्ठ पुरुष मना भी कर देंगे, तो वे बड़े लज्जित होंगे। यही सब भिक्षुकों को शिक्षा देने के लिये भगवान् ने भिक्षुक का वेष धारण किया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज बलि ने अत्यन्त उदारता के साथ वटु वामन से इच्छित वस्तु मांगने के लिये आग्रह किया, तो उसे वढ़ाबा देने के लिये भिक्षुक भगवान् भिखारी की सभी लीलाओं को प्रदर्शित करने लगे। भगवान् ने देखा इस समय राजा बलि शुक्राचार्य की मुट्ठी में हैं। वे जो कहते हैं, वही ये करते हैं। अतः सब से पहिले वे शुक्राचार्य की ही प्रशंसा करते हुए बोले—"राजन् ! आप धन्य हैं, जैसी हम आपकी प्रशंसा सुनते थे आप तो उससे भी कहीं वढ़ चढ़कर निकले। क्यों नहो, जिनके सम्पति दाता, पुरो-हित गुरु और समस्त ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कार्यों को कराने वाले भृगुनन्दन भगवान् शुक्राचार्य हों, ऐसे बचन उनके अनुरूप ही हैं। सेवक के व्यवहार को देखकर स्वामी का व्यव-हार समझा जा सकता है। शिष्य की योग्यता से गुरु की योग्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। एक भिक्षुक के सम्मुख ऐसे उदार, मधुर और निश्छल वचन शुक्राचार्य के शिष्य ही कह सकते हैं। हाँ, यदि कोई अकुलीन शिष्य हो, तो वह गुरु आज्ञा मानता ही नहीं। आपके कुल के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ?"

अत्यन्त ही नम्र होकर लजाते हुए महाराज बलि बोले—"प्रभो ! मैं तो आप ब्राह्मणों का दास हूँ।"

अत्यन्त ही उल्लास के स्वर में वामन वटु बोले—"महाराज! ऐसी नम्रता अकुलीनों में कभी आ ही नहीं सकती। आप ब्राह्मणों के सेवक हैं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। आप उन्हीं महाराज विरोचन के पुत्र हैं, जिन्होंने ब्राह्मणों के निमित्त अपने प्राणों को भी देदिया था।

वात यह थी कि महाराज विरोचन बड़े ही तेजस्वी यशस्वी शूरवीर दानी और धनुर्वेद विशारद थे। उन्होंने अपने वाहुवल से स्वर्ग को जीत लिया था। देवताओं को स्वर्ग से भगा दिया था। वे त्रैलोक्य का शासन करते थे। उनके समीप ब्राह्मण जब भी आकर जिस वस्तु की भी याचना करते वे उसे उसी समय देते, ब्राह्मणों के लिये कोई भी वस्तु उनके लिये अदेय नहीं थी। जब सुरगण उन्हें पराक्रम से न जीत सके, तो उन्होंने उन्हें कपट से जीतना चाहा। इन्द्रादि देव ब्राह्मणों का वेष बनाकर उनके समीप पहुंचे। ब्राह्मण भक्त विरोचन ने उनका यथेष्ट स्वागत सत्कार किया वे समझ तो गये, कि ये यथार्थ ब्राह्मण नहीं है हमारे शत्रु देवता ही ब्राह्मणों का वेष वनाकर मेरे पास आये हैं, किन्तु उन्होंने सोचा—"ये कोई भी क्यों न हों, मेरे पास तो ब्राह्मण बनकर ही आये हैं। अतः मुझे तो इनका स्वागत सत्कार ब्राह्मणों की ही भाँति करना चाहिये।" यह सोचकर उनकी विधिवत् पूजा की और अन्त में कहा—"ब्राह्मणो! आप जिस प्रयोजन के लिये मेरे पास आये हैं, उसे कहिये। मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ!"

उनमें से ब्राह्मण वेष बनाये सहस्राक्ष इन्द्र बोले—"राजन्! आप वचन दें कि हमारी इच्छा पूरी करेंगे। तभी हम आपसे याचाना कर सकते हैं।'

इस पर महराज विरोचन ने कहा—"ब्राह्मणो! आप मेरे ऊपर ऐसा अविश्वास क्यों कर रहे हैं। आपको जो भी मांगना हो, वह निरासंकोच होकर मांगे। मेरे लिये कोई भी वस्तु ब्राह्मणों के लिये अदेय नहीं है।"

यह सुनकर इन्द्र ने कहा—"राजन् हम आपकी शेष आयु चाहते हैं। हमें अपना जीवन दे दीजिये।"

अत्यंत ही हर्ष के साथ ब्राह्मण भक्त महाराज विरोचन ने कहा—"ब्राह्मणों ! आज मैं कृतार्थं होगया मेरा जीवन धन्य होगया, जो ब्राह्मणों के काम में आगया। मैं अपना जीवन, प्राण, सहर्ष आपको समर्पित करता हूँ।"

वामनवटु कह रहे हैं—"राजन् ! इतना कह कर उन्होंने इन्द्र को जानते हुए भी अपना जीवन दे दिया। उन्हीं के वीर्यं से आप उत्पन्न हुए हैं। पिता ही पुत्र वनकर उत्पन्न होता है पिता की आत्मा ही पुत्र रूप में परिणित हो जाती है, आप इतने ब्राह्मण भक्त हैं इसमें आश्चर्य करने की कोई बात ही नहीं, क्योंकि आप परम भक्त यशस्वी असुराधिप महाराज विरोजन के पुत्र हैं।"

लजाते हुए वलि बोले—"महाराज, मैं तो उनके चरणों की धूल के एक कण के सदृश भी नहीं हो सकता मुझमें वैसे गुण सैकड़ों जन्मों में भी नहीं आ सकते।"

वामन वटु विकसित होकर बोले—"अजी राजन् आप ऐसी बात न कहें। आपके तो कुल में सभी ऐसे ही होते आये हैं। उन सबमें गुण थे वे सब एकत्रित होकर आपमें घनीभूत हो गये हैं। आपके पिता महाराज प्रह्लाद के विषय में कुछ कहना मानों सूर्य को दीपक दिखाना है। भगवान् के गुणों की भांति सर्वत्र उनके गुणों का भी गान किया जाता है। भगवान् के यश के समान संसार में उनका भी यश व्याप्त है, वे समस्त भक्तों के अग्रणी, पूजनीय और आदर्श हैं। जिस प्रकार असुर कुल में भक्ति शिरोमणि प्रह्लादजी हो रहे हैं। अपने निर्वल निष्कलंक सुयश से संसार में सूर्य के समान

देदीप्यमान मान हो रहे हैं। राजन् ! उसी कुल में आपका जन्म हुआ है। वे प्रह्लादजी तुम्हारे पिता के पिता थे, फिर पौत्र में ये सब गुण क्यों न आवें। आप के लिये तो ब्राह्मण भक्ति आदि सद्गुण कुल परम्परा की पैतृक सम्पत्ति है। आप के पूर्वज ब्राह्मणों को ही दान देने में शूरवीर रहे हों, सोभी बात नहीं है। जिस वीरमानी योद्धा ने आकर उनसे युद्ध की याचना की, ऐसा एक भी उनके समीप से निराश होकर नहीं लौटा। चाहे शुभपर्व में या युद्ध स्थल में आये हो, चाहे आकर धन की याचना की हो या युद्ध की, आपके पिता पितामह तथा प्रपितामह किसी ने भी पीछे पग नहीं रखा। उनके सम्मुख आने पर कोई निराश होकर नहीं लौटा। फिर मैं कैसे निराश होकर लौट सकता हूँ।

बलि ने कहा—"द्विजवर ! आप हैं तो नन्हे से, ये सब मेरी बातें जानते कैसे हैं ? मेरे पिता पितामह आदि सभी का इतिहास आपको विदित हैं, प्रतीत होता है आप सर्वज्ञ हैं।"

हँसकर वामन वटु बोले—"अजी राजन् ! इसमें सर्वज्ञता की कौन सी बात है ? जैसे सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, समुद्र हिमालय इन्हें सभी जानते हैं, वैसे ही आप का वंश विश्व विख्यात है। यह सम्पूर्ण संसार उनके यश से भर रहा है। राजन् ! जैसे शूरवीर, पराक्रमी, यशस्वी, विश्व विजयी, आपके पिता और पितामह थे वैसे ही आपके प्रपितामह भी थे। अन्य पुरुषों की तो बात ही क्या उन्होंने विष्णु के भी दाँत खट्टे कर दिये। आपने अनेकबार शुक्राचार्य अदि प्राचीन ऋषि मुनियों से इनका इतिहास सुना होगा उसमें से कुछ मैं भी सुनाता हूँ, आप सावधानी से सुनें संकोच न करें। उन चरित्रों की सुनने से आपको भी लाभ होगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यह कहकर छली वामन वलि को बढ़ावा देने, उसके प्रपितामहों की प्रशंसा करने लगे ।

छप्पय

सत्वहीन अरु कृपन भये तुमरे कुल नाहीं ।
असुरवंश को सुयस व्याप्त सबरे जग माहीं ॥
कल्पवृक्ष के सरिस भये पूर्वज तुमरे सब ।
इच्छा पूरन करो सबनिकी तुमहू नृप अब ॥
हिरनकशिपु हिरनाक्ष हू, प्रपितामह तुम्हरे भये ।
लड़े विष्णु तें समपमहँ नाम अमर जग करि गये ॥



वामन द्वारा बलि के प्रपितामहों की प्रशंसा ।

(५६१)

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीम् ।
प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः ॥*॥

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

हिरण्याक्ष नहिँ समर माँहि काहू तैं हारयो ।
बनि के विष्णु वराह कपट तैं ताकूँ मारयो ॥
हरि हिन भये हताश पराजित आप न मान्यो ।
बन्धु मृत्यु सुनि हिरनकशिपू ने सर सन्धान्यो ॥
चलै विष्णु तैं लड़न हित, सोवत तैं श्रीपति जगे ।
देखि वीर के तेज कूँ, तजि शैया पुर तैं भगे ॥

वंशपरम्परा का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य होता है
अपने पूर्वजों की कीर्ति यश तथा कार्यों का स्मरण अव

*वामन भगवान् बलि से कह रहे हैं—"राजन् ! आपके ही कुल में हिरण्याक्ष का जन्म हुआ । जो वीर गदा लेकर सम्पूर्ण भूमंडल पर बिना सेना लिये अकेला ही दिग्विजय के लिये घूमता फिरा किन्तु उसे अपना बराबर प्रतिपक्षी वीर ही नहीं मिला ।

करने से अपने आप में भी उत्तेजना आ जाती है। इसीलिये युद्ध में वीर आपस में ललकार कर कहते हैं, हम उस वंश के हैं। सूत, मागध, बन्दी उनके पूर्वजों के यश का गान करते हैं, जिससे उनके प्रभाव को स्मरण करके प्राणपण से युद्ध करें। कुल के कार्यों का स्मरण होने से कायरों की धमनियों में भी वीरता के रक्त का वेग के साथ संचार होने लगता है। इस सम्बन्ध में एक प्राचीन कथा है।

दो आदमी किसी बात पर लड़ पड़े। उनमें एक वैश्य था, दूसरा क्षत्रिय। वैश्य हृष्ट पुष्ट मोटा ओर स्थूलकाय था, दूसरा क्षत्रिय दुबला पतला निर्बल और क्षीणकाय। बातों ही बातों में रार बढ़ गई गाली गलौच होने लगी। हाथा वाहीं की नौबत आगई। वैश्य बलवान् था मोटा था उसने क्षत्रिय को पटक दिया! और उसकी छाती पर सवार होकर बड़े गर्व से कहा—बोल अब क्या कहता है?"

दुर्बल पतला आदमी इतने मोटे मनुष्य के भार को न सह सका। उसके प्राण घुटने लगे। क्षमा याचना के निमित्त उसने नीचे पड़े पड़े ही बड़े स्नेह से यह पूछा—"बन्धुवर! आप किस जाति के हैं आप का जन्म किस कुल में हुआ है?" जीता हुआ आदमी तो सिंह के समान हो जाता है। विजय के उल्लास में गर्व के साथ उसने कहा—"हम हैं वैश्य अग्रवाल। बोल क्या करेगा?"

इतना सुनना था, कि क्षत्रिय की धमनियों में जातिगत वीरता का संचार हुआ। डाँटकर उसने कहा—धत्तेरी बनिये की, अरे, धन में व्यापारिक बुद्धि में तू भले ही जीतले शारीरिक

वल में तू कैसे मुझे जीत सकता है । यह कहकर मारी जो उसने ऐड़ी कि फट्ट से लाला जी नीचे और ठाकुर साहब ऊपर। सब लोग यह देखकर हँस पड़े और बोले—"कुलागत बल का कुछ तो प्रभाव होता ही है।"

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! बलि को उत्साहित करने के लिये वामन भगवान उनके पिता पितामह की प्रशंसा कर चुके और उन्होंने अनुभव किया कि इन बातों से बलि उत्साहित हो रहा है. तो अब वे उसके प्रपितामहों की प्रशंसा करने लगे । वामन् भगवान् बोले—"राजन् ! देखिये, आपका वंश साक्षात् ब्रह्माजी से आरम्भ हुआ है। ब्रह्माजी के मानसिक पुत्र भगवान् कश्यप हुए ! उनके दिति अदिति आदि १३ पत्नियाँ थी । कश्यप जी तो तपस्वी ऋषि ही ठहरे। यह सम्पूर्ण स्थावर जंगम दृश्य जगत् उन्हीं की सृष्टि है, वे ब्रह्मा जी के समान ही दूसरे प्रजापति हैं ! उनकी दिति नामक पत्नी में हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नाम के दो आदि दैत्य हुए। वे ही आपके प्रथम पूर्वज हैं। हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लादजी हुए, प्रह्लाद जी के विरोचन और विरोचन के आप। आपके भी ये आपके ही समान तेजस्वी, यशस्वी, दानी और शिवभक्त वाण आदि १०० पुत्र हैं । आपके कुल में शूरता दान, वीरता सनातन से परम्परागत चली आती है। आपके पिता पितामह की दान शीलता, वीरता और भक्ति का तो मैं यत् किञ्चित् दिग्दर्शन करा ही चुका हूँ, अब आप अपने प्रपितामहों की बात सुनिये।

आपके दो प्रपितामहों में से हिरण्यकशिपु बड़े थे, हिरण्याक्ष छोटे थे। हिरण्याक्ष इतने वीर थे, कि संसार में उनसे लड़ने

वाला तो दूर रहा, कोई सम्मुख खड़ा होने वाला भी नहीं था। इन्द्रादि लोकपाल उनका नाम सुनते ही थर थर कांप जाते थे। वे हाथ में गदा लिये हुये सम्पूर्ण संसार की दिग्विजय करते हुए घूमे सबसे वे युद्ध की याचना करते, सभी पैरों पड़कर उनसे क्षमा याचना करते। यहाँ तक साक्षात् विष्णु का भी उनसे लड़ने का साहस नहीं हुआ। सूअर का वेष बनाकर उनके भय से पाताल में जा छिपे। वह वीर उनका पता लगाते हुए पाताल में भी जा पहुँचा। क्योंकि युद्ध के लिये उसके हाथ खुजा रहे थे, अब होने लगी दोनों में गुत्थम गुत्था। इस असुर वर वीर ने सूअर वेषधारी विष्णु के दाँत खट्टे कर दिये। जैसे तैसे उसे मार तो डाला, किन्तु उसके बल का स्मरण करके विष्णु अपने को पराजित ही मानते थे। युद्ध में विष्णु को ऐसा सन्तुष्ट कर दिया कि विष्णु सर्वत्र उनके बल की भूरि भूरि प्रशंसा करते थे।

जब उनके बड़े भाई हिरण्यकशिपु ने अपने छोटे भाई की मृत्यु की बात सुनी तो हाथ में गदा लेकर वह विष्णु से लड़ने चला। तब तो विष्णु भगवान् की सिटिल्ली भूल गई। वह पराक्रमी वीर सीधा वैकुंठलोक में चला गया, कि मैं विष्णु को मारकर ही लौटूँगा।'

विष्णु ने देखा कि इस वीर से तो मैं किसी प्रकार जीत नहीं सकता। यह बिना मारे मेरा पीछा न छोड़ेगा। बाहर कहीं भी छिपूँ यह मुझे खोज ही लेगा। क्योंकि इसकी दृष्टि बाहरी ही है। यही सब सोचकर विष्णु उसके हृदय में छिप गये। जैसे आँखों में को दिखाई नहीं देता वैसे ही हिरण्यकशिपु को हृदय में छिपे विष्णु

दिखाई नहीं दिये। उसने वैकुंठ में चारों ओर खोजा वहाँ विष्णु दिखाई ही न दिये। फिर उसने पृथिवी को छान डाला, स्वर्ग को खोजा, महाजन, तप, तथा सत्य, आदि लोकों में. दशों दिशाओं में, सातों, समुद्रों में, सातों पातालों में तथा सभी स्थानों में खोज की। विष्णु बाहर होतो मिले, वे तो भय से थर-थर काँपते हुए सूक्ष्म शरीर धारण करके हिरण्यकशिपु के शरीर में प्रविष्ट हो गये थे। जब सर्वत्र खोजने पर भी उसे विष्णु न मिले, तो उसने गरज कर अहंकार के साथ कहा—"विष्णु को मैंने जीत किया, वह अवश्य मेरे भय से ही मर गया। कहीं होता तो दिखाई देता" इस प्रकार विष्णु से टक्कर लेने वाले तुम्हारे पूर्वज थे। उन्हीं के पुण्य-प्रभाव से प्रह्लाद जैसे विश्वविख्यात भगवद् भक्त उनके पुत्र उत्पन्न हुए। वैसे ही उनके पुत्र विरोचन हुए। एक बार विरोचन में और एक ऋषि पुत्र में झगड़ा होगया। विरोचन तो कहते थे. मैं बड़ा ऋषिकुमार कहते थे मैं बड़ा। दोनों ने ही प्रह्लाद जी को अपना पंच चुना। दोनों ने ही परस्पर में प्राणों का पण लगाया था। प्रह्लाद जी बड़े धर्म संकट में पड़े, किन्तु उन्होंने सत्य को धर्म को नहीं छोड़ा। निर्भय होकर यही निर्णय दे दिया कि विरोचन की अपेक्षा ऋषिकुमार ही श्रेष्ठ हैं। राजन्! आपके कुल की यह प्रथा है कि जा कह दिया सो कह दिया, जो दे दिया सो दिया। किसी को न तो आज तक निराश ही लौटाया और न किसी को वचन देकर उससे हटे हो।

आप भी-किसी से कम नहीं मैं तो कहूँगा, आपमें उन सब के समग्र गुण एकत्रित होकर आगये हैं। आपने अदे

वाहु बल से देवताओं को जीतकर स्वर्ग पर अधिकार कर लिया है, तीनों लोकों को अपने वश में कर लिया है। फिर भी आप विषय भोगों में लिप्त नहीं निरन्तर दान पुण्य और यज्ञयागों में ही संलग्न रहते हैं। सदा कल्पवृक्ष की भाँति याचकों के मनोरथों को पूर्ण करते रहते हैं। चन्द्रमा के समान सभी को शीतलता प्रदान करते हैं। सूर्य के समान सभी को प्रकाश देते हैं। आप पृथ्वी के समान सहनशील हैं, वायु के समान भोगों में निर्लिप्त हैं, जल के समान जीवों के जीवन हैं। आकाश के समान निर्मल हैं। यह सब गुरु कृपा का फल है। आपके गुरुदेव भगवान् शुक्राचार्य सर्वसमर्थ हैं। आपको हितकर धर्म की सदा शिक्षा देते रहते हैं। उन्हीं की शिक्षा का यह फल है कि आपकी धर्म में ऐसी अविचल आस्था है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उस छोटे से वामन् वटु के मुख से ऐसी धारा प्रवाह वक्तृता सुनकर गुणग्राही बलि चकित होगये। उनके मन में आया, इस मधुर भाषी बच्चे को सर्वस्व दान करदें। इसीलिये बड़े उल्लास के साथ वोले—"हे ब्राह्मण कुमार ! हे परमपूजनीय वटो ! हे ब्रह्मचारिन ! आप अपनी मनो कामना कहें आप इस बात की तनिक भी शंका न करें, कि मेरी इच्छा पूरी न होगी। आप जो भी माँगेंगे, वहा मैं बिना संकोच के दूँगा। आप संकोच छोड़कर अपनी इच्छित वस्तु माँगिये।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ? इतना सुनकर भी वटु चुप ही रहे, उन्होंने कुछ माँगा नहीं। राजा बलि उनसे बार वार आग्रह करते रहे।

छप्पय

नहीं दुबकि वे ,जोग ठौर देख्यो श्रीपति जब।
धारि सूक्ष्म तनु असुर हृदय महँ प्रविशेऽरि तब॥
खोजे स्वर्ण पताल भूमि पै पतो न पायो।
समझि भगौड़ो छोड़ि लौटि अपने घर आयो॥
तुम उपजै तिहि वंशमहँ, विश्वविदित रणधीर हो।
याचक इच्छा कल्प तरु, सब दानिनि महँ वीर हो॥



वामन की बलि से तीन पग पृथ्वी की याचना

(५६२)

तस्मात् त्वत्तो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात्।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र संमतानि पदा मम ॥*॥
(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० १६ श्लो०

छप्पय

राजन् ! तुम तैं तनिक भूमि हौं आयो याचन।
केवल जपके हेतु लगै जामें सुख आसन॥
दान ग्रहन आत अधम तऊ निर्वाह करन हित।
लैवे महँ नहिँ दोष अधिक तृष्णा है निंदित॥
केवल अपने पांइ तैं, तीन पैर पृथिवी चहूँ।
अधिक लेंउँ नहिँ एक डग, सत्य सत्य भूपति कहूँ॥

बड़े पुरुषों से छोटी वस्तु माँगना उनका अपमान करना है, किन्तु यदि माँगने वाला कपटी हो और उँगली पकड़ कर

---

* श्रीवामन भगवान् महाराज बलि से कह रहे हैं—"राजन ! आप समस्त वरदानियों में श्रेष्ठ हैं, इसीलिये मैं आप से थोड़ी सी पृथ्वी याचना करता हूँ। हे दैत्येन्द्र। केवल तीन पग पृथ्वी चाहता हूँ, सो भी अपने पैरों से ही नापकर।

पहुंचा पकड़ने का प्रयन्त करे, तो बड़े लोग संकट में पड़ जाते हैं, उनकी गति साँप छछुंदर की सी हो जाती है, न निगल ही सकते हैं और न उगल ही सकते हैं। इसी प्रकार कहकर वचन देकर—न वे हाँ ही कर सकते हैं और न नाहीं कर सकते हैं। किन्तु जो ज्ञानी मनस्वी होते हैं, वे प्राण रहते प्रण को नही छोड़ेते, तभी तो उनकी कीर्ति संसार में अमर हो जाती है, वे पराजित होने पर भी विजयी समझे जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् जब महाराज बलि ने बार बार वामन वटु से वांछित वस्तु माँगने का आग्रह किया तब वे महाराज बलि से बोले—"हे दैत्येन्द्र आप वरदानियों में विख्यात हैं तीनों लोको में आपकी विमल धवल कीर्ति व्याप्त है, सर्वत्र आके दान की प्रसिद्धि है, इसी से मैं भी आपसे कुछ माँगने आया हूँ।"

यह सुनकर उल्लास के साथ बलि ने कहा—हाँ, हाँ, मांगिये ब्राह्मण ! मैं कितनी देर से प्रार्थना कर रहा हूँ, जो इच्छा हो सो माँगिये।"

वटु बोले—"मुझे कुछ पृथिवी दे दीजिये। बलि ने अत्यन्त हर्ष के साथ कहा—"सब पृथिवी महाराज आपकी है। कितनी आपको चाहिये ?"

वामन बोले राजन् ! मैं लोभी ब्राह्मण नहीं हूँ मैं आवश्यकता से अधिक संग्रह नहीं करता। मुझे आप मेरे पैरों से तीन पग नापकर पृथिवी दे दीजिये।

यह सुनकर राजा बलि वहुत हँसे और बोले—वृद्ध पुरुष जो कहते हैं वह मिथ्या नहीं है कि वच्चों की बुद्धि कच्ची

होती है। बातों में तो आप बूढ़ों के भी कान काट रहे थे, फिर भी बालकपने की बुद्धि कहाँ जा सकती है। अपने स्वार्थ में तुम निरे अबोध शिशु ही सिद्ध हुए। अजी, जब माँगना ही था और मुझ जैसे चक्रवर्ती राजा को अपनी सुन्दर युक्तियों और मधुर बातों से प्रशन्न कर लिया, तो फिर तीन पैर पृथिवी का क्या माँगना। समस्त पृथिवी मांगते। इतनी बड़ी पृथिवी न सही सातों द्वीपों में से किसी द्वीप का राज्य मांग लेते। माँगने भी आये तो तीन पग पृथिवी।"

यह सुन वामन वटु बोले—"राजन्! मांगना सबसे निकृष्ट कार्य है। ऋषियों ने दान लेने को बुरा बताया है उन्होंने अपरिग्रह व्रत की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यदि मांगे बिना काम न चले। दान लेना ही पड़े तो उतनी ही वस्तु ग्रहण करे जितनी से कष्ट सहित जीवन यापन हो जाय। यदि इस नियम से जो आवश्यक वस्तु का दान लेता है, तो उसे किसी प्रकार का दोष नहीं लगता।"

बलि बोले—"अच्छा यह तो ठीक ही है. किन्तु तीन पैर पथिवी से क्या होगा उसमें। आप लेट भी तो नहीं सकते। कष्ट के अतिरिक्त आपको और क्या प्राप्त होगा। आपको कष्ट होगा फिर मेरे पास आवेंगे और कहेंगे—"इतनी से मेरा काम नहीं चलता ३ हाथ और दे दीजिये। उतनी से भी काम न चलेगा। कहाँ अग्नि होत्र करेंगे, कहाँ गौ रखेंगे, कहाँ कुँआ खुदावेंगे, कहाँ पेड़ लगावेंगे, कहाँ कथा वार्ता के लिए पीठ बनावेंगे, विद्यार्थी आगये तो कहां उन्हें पढ़ावेंगे, फिर आप मेरे पास आवेंगे। इस बार बार के झंझट से तो यही उत्तम

है आप एक बार यथेच्छ मांगलें। मैं दान देते समय इस बात का विशेष ध्यान रखता हूं कि न्यून से न्यून इतना दान याचक को अवश्य दिया जाय, कि उसे अपने जीवन में फिर किसी के सम्मुख हाथ न फैलाना पड़े, फिर किसी से याचना न करनी पड़े। आप और अधिक पृथिवी माँग लीजिये। नन्हें नन्हें से तो आपके पैर हैं इनसे नापोगे, तो कितनी पृथिवी आवेगी।"

यह सुनकर वामन बोले—"देखिये, राजन्। सब मनुष्य अपने हाथों से ९६ अंगुल के होते हैं, बड़े पुरुषों की बड़ी उँगलियाँ होती हैं, छोटों की छोटी। मैं छोटा हूँ, मेरे पैर भी छोटे हैं। मुझे तो केवल बैठकर जप करना है दूसरे की भूमि में जप तप करने से आधा भाग भूमि के स्वामी के पास चला जाता है। अतः मैं केवल बैठने योग्य ही भूमि चाहता हूँ।"

बलि ने कहा—'महाराज। यह सब तो सत्य है, किन्तु उतनी भूमि तो मांगो जिससे पूर्ण सन्तुष्टि हो सके?'

इसपर वामन बोले—"राजन्! मुझे आप किसी एक का नाम बता दीजिये, जिसकी पृथिवी से तुष्टि हुई हो। जो तीन पग से सन्तुष्ट नहीं हुआ, वह सातद्वीप नव खंड वाली इस पूरी पृथिवी को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। मनु प्रियव्रत, गये, भगीरथ, रावण, हिरण्कशिपु आदि बड़े बड़े तेजस्वी प्रतापशाली राजा हुए हैं। ये सप्तद्वीपवती पृथिवी के स्वामी कहे जाते थे, सातों समुद्रों वाली इस वसुन्धरा पर उनकी आज्ञा मानी जाती थी, किन्तु वे भी अंत तक तृष्णा के वशी-भूत होकर पृथिवी के ही लिये लड़ते रहे। उनकी तृष्णा शान्त

नहीं हुई। इन विषयों को जितना ही भोगो उतनी ही अधिक तृष्णा बढ़ेगी महाराज ययाति ने अपनी वृद्धावस्था अपने छोटे पुत्र को देकर उसकी युवावस्था से यथेष्ट भोगों को भोगा। अन्त में उन्होंने यही कहा—विषयों की प्रचुरता में सुख नहीं, शांति नहीं, सन्तोष नहीं, तृप्ति नहीं। उनके उपभोग से तो तृष्णा और अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। अतः राजन्! मैं तीन पग पृथिवी से तनिक भी अधिक ग्रहण न करूँगा।"

बलि ने कहा—"भगवान्! मुझे तो कोई आपत्ति ही नहीं। आप तीन पग लीजिये, तीनों लोकों को लीजिये, मैं तो सभी प्रकार से तैयार हूँ। किन्तु यह मेरी पद प्रतिष्ठा के विरुद्ध बात है। आप तो छोटे हैं छोटी वस्तु मांगने में सङ्कोच नहीं करते किन्तु मेरे लिये तो यह अपमान की बात है। आप मेरे अनुरूप दान मांगिये।"

कपटी वामन बोले—राजन्! मैं तो ब्राह्मण हूँ। ब्राह्मण का मुख्य धन तो सन्तोष है। ब्राह्मण ने जहाँ आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह किया। जहां उसने लोभ बढ़ाया, वहाँ उसका पतन अनिवार्य है। ब्राह्मणों को तो जो भी कुछ प्राप्त हो जाय। उसी में सन्तोष करना चाहिये। असन्तोष से उसका तेज उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे पानी से अग्नि नष्ट हो जाती है। जब मेरा काम तीन पग पृथिवी से ही निकल जाय तो अधिक याचना क्यों करूँ? अधिक संग्रह कर पाप का भागी क्यों बनूँ?"

दैत्यराज बलि बालक की ऐसी हठ देख कर बोले—"संसार में तीन हठ प्रसिद्ध हैं, राजहठ, त्रियाहठ और बालहठ।

राजा तो मैं स्वयं हूँ इसलिये अपने हठ का मुझे स्वयं ज्ञान नहीं। मेरी रानी ऐसी पतिव्रता है कि वह कभी मुझसे हठ करती नहीं। सदा मेरी हां में हां मिलाती रहती है। इसीलिए उसका भी मुझे विशेष अनुभव नहीं, किन्तु बालहठ तो आज मैंने प्रत्यक्ष देख लिया। चार चार अंगुल के नन्हे नन्हे कमलों पंखुड़ियों के समान कोमल तो इस ब्राह्मण कुमार के चरण। उनसे ही नापकर यह पृथिवी लेना चाहा है। सो भी लाख दो लाख हजार दो हजार पग नहीं केवल तीन पग ही चाहता है। मुझे देने में लज्जा लगती है और कहने में भी। फिर वामन से बोले—"ब्रह्मचारी ! भैया और कुछ मांगलो।"

हठपूर्वक कपटी ब्राह्मण बोले—राजन् ! मेरा कार्य तो इतने से ही पूर्ण हो जायगा। क्योंलि अपनी आवश्यकतानुसार ही अर्थ संग्रह करना उचित है, धर्म सङ्गत है न्याय है।"

हँसकर बलि बोले—"अच्छी बात है महाराज ! लेलो, तीन पैर ही पृथिवी। किन्तु नापते समय कुछ बढ़ा लेना।"

वटु वामन हँसते हुए उपेक्षा के स्वर में बोले—"सो तो देखा जायगा। आप पहिले सङ्कल्प तो करें। पीछे जो कुछ होगा, उसे आप स्वयं ही देखेंगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वामन की यह बात सुनकर बलि महाराज उन्हें पृथिवी देने को उद्यत हुए। शुक्राचार्य तो इस वटु वामन के यथार्थ रूप को जानते थे। उन्हें तो पहिले ही पता था, यह ठग धिद्या कर रहा है। मेरे चेले

का सर्वस्व अपहरण करना चाहता है। अतः वे राजा बलि को सङ्कल्प करने से रोककर उन्हें नीति की बात समझाने लगे।

छप्पय

हँसि बलि बोले वटो ! बात वृद्धनिवत भाखो।
किन्तु स्वार्थ महँ बुद्धि तनिक वामन नहिं राखो॥
मोकूँ करि सन्तुष्ट तीनि पग पृथिवी भिक्षा।
माँगी, मानों मिली नहीं स्वारथ की शिक्षा॥
कपटी वटु बोले विभो, हौं लोभी वामन नहीं।
तुरत देहु, संदेह मन, फिर नाहीं करदैं कहीं॥



शुक्राचार्य का शिष्य को समझाना

(५६३)

एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम् ।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

लै सुवर्ण जल पात्र कहैं बलि--अच्छा, लीजै ।
शुक्र बीच महँ रोकि कहें नृप भूमि न दीजै ।
यह वटु वामन नहीं वदलि कें वेष बनायो ।
कमलापति यह विष्णु कपटतें ठगिवे आयो ॥
जब फैलावे पैर जिह, बटु बिराट बनि जायगो ।
राज्य भ्रष्ट असुरनि करै, अमरनि अधिप बनायगो ॥

यजमान के हित में जो आगे रहे वही पुरोहित कहलाता है । यजमान और पुरोहित का सम्बन्ध पिता पुत्र का सा होता है । पुरोहित के पुत्र पुत्रियों से भाई बहिन का सम्बन्ध होता

*महाराज बलि को समझाते हुए शुक्राचार्य कह रहे हैं—राजन् ! तुम इन्हें साधारण ब्राह्मण मत समझो ये तुम्हारे स्थान, ऐश्वर्य लक्ष्मी और विश्व विख्यात यश को छीनकर इन्द्र को दे देंगे । ये माया से वामन बने हैं । वास्तव में ये हैं साक्षात् श्रीहरि ही ।

है। यजमान के घर को पुरोहित अपना घर समझते हैं, उसके हित में सदा तत्पर रहते हैं। यजमान भी बिना पुरोहित के पूछे कोई इहलोक या परलोक सम्बन्धी कार्य नहीं करता। पिता की आज्ञा तो टाली भी जा सकती है, किन्तु पुरोहित की आज्ञा टालना असम्भव है। ऋषि वसिष्ठ ने अपने यजमान महाराज से कह दिया तुम्हारे पुत्र ने धर्म विरुद्ध कार्य किया है श्राद्धी पदार्थ में से बीच में से ही कुछ खा लिया है इसे अपने राज्य से निकाल दो!" इतने से छोटे अपराध पर अपने राज्य के अधिकारी युवराज्य को सदा के लिये देश निकाला दे देना यह कहाँ का न्याय है?" किन्तु इसे पूछे कौन? पुरोहित की आज्ञा के विरुद्ध बोले कौन?" राजा ने उसे निकाल दिया। कहने का सरांश इतना ही है, कि यजमान पुरोहित की समस्त आज्ञाओं का बिना ननु नच के पालन करते थे और पुरोहित भी अपना तप, तेज, लगाकर निरन्तर यजमान के हित की ही वात सोचा करते थे। उसकी उन्नति को अपनी उन्नति और उसकी अवनति को अपनी अवनति मानते थे। इसीलिये यह सम्बन्ध बड़ा पवित्र समझा जाता था। कालक्रम से यह सम्बन्ध लोप होगया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब बहुत देर तक वाद विवाद होता रहा और वामन अपनी तीन डग पृथिवी पर ही अडिग बने रहे, तब बलि ने कहा—अच्छी बात है, महाराज, जैसी आपकी इच्छा। लो, तीन ही पग पृथिवी ले लो। मेरे राज्य में जहाँ भी चाहो तीन डग नाप लो। मैं हाथ में जल लेकर संकल्प करता हूँ।" इतना कहकर ज्यों ही उन्होंने सुवर्ण की झारी में से जल लेकर शुक्राचार्य से संकल्प करने को कहा,

त्यों ही शुक्राचाय सूखी हँसी हँसकर बोले—"राजन् ! आप कर क्या रहे हैं ?"

उल्लास के साथ बलि ने कहा—भगवान् ! आप देख नहीं रहे हैं, कैसा सुन्दर तेजस्वी तपस्वी, ब्राह्मण, बालक है, इसे भूमि दान कर रहा हूँ।"

दृढ़ता के स्वर में शुक्राचार्य ने कहा—"नहीं, संकल्प की कोई आवश्यकता नहीं। इनको भूमि दान करना उचित नहीं।"

यह सुनकर महाराज बलि तो आवाक् रह गये। दान देने में गुरुजी ने आज तक कभी मना नहीं किया था, आज यह नई आज्ञा कैसी ? विस्मित होकर दीनता के स्वर में कहा—"एक तो वेचारे ब्राह्मण कुमार ने स्वयं ही बड़े संकोच के साथ बहुत कम भूमि माँगी है, तिस पर भी आप उसे देना नहीं चाहते। बात क्या है ?"

शुक्राचार्य ने कहा—"बात क्या है, ब्राह्मण हो, तो उसे दें। यह तो ठगिया है। कपट वेष बना रखा है। यह विष्णु है विष्णु। बौना बन कर नट की भाँति लीला कर रहा है। यह अपने को छिपाना तो बहुत चाहता है, किन्तु मुझ से कहीं छिप सकता है। मैं इसकी सब करतूतें जानता हूँ। मुझे इसकी छटी तक का पता है। यह महा मायावी है। तुम्हारे बाप को आधासिंह और आधापुरुष बन कर मारा तुम्हारे बड़े बाबा के छोटे भाई को सूअर बनके पछाड़ा। तुम्हें यह बौना बनकर ठगने आया है। मैं अपने सम्मुख अन्याय न होने दूंगा। मैं पृथ्वी दान न देने दूँगा।

बलि ने सरलता के साथ कहा—"क्यों किसी पर व्यर्थ शंका करते हो, यों संदेह किया जाय, तो सभी पर किया जा

सकता है। कोई भी क्यों ने हो भिखारी बन कर आया है। तीन ही डग तो पृथिवी माँगता है। दे देने दो।"

अपनी बात पर बल देते हुए शुक्राचार्य बोले—"तीन डग के ही भरोसे में मत रहना। यह तीन पैर में ही सब कुछ ले लेगा। तीन पैर में ही यह त्रिलोकी को नाप लेगा। तुम्हारा घर, द्वार, यश, ऐश्वर्य, धन, लक्ष्मी तथा सर्वस्व छीनकर यह देवताओं को दे देगा। मुझसे इसकी कोई बात छिपी थोड़े ही है। यह कश्यप जी के वीर्य से अदिति के उदर से उत्पन्न हुआ है इसके जन्म का एक मात्र उद्देश्य है देवताओं का कार्य साधना। असुरों से सब सम्पति को अपहरण करके सुरों को प्रदान करना। इसे तुमने कुछ दे दिया तो मानों सर्वस्व दे दिया। फिर असुरों का क्षेम नहीं, कल्याण नहीं, ऐश्वर्य नहीं, वृद्धि नहीं, राज्य नहीं। जैसे आज देवता मारे मारे फिर रहे हैं वैसे फिरेंगे। अतः मैं अपनी शक्ति रहते इसे दान न देने दूँगा।

बलि को ये बातें सुनकर बड़ा दुःख हुआ और बोला—अजी, इस छोटे से बच्चे के सामने ऐसी रूखी रूखी बातें क्यों कर रहे हो। बच्चा तो पहिले संकोच के कारण माँगता ही नहीं था मेरे बहुत कहने पर तो उसने मांगा, तिस पर भी आप रोड़े अटका रहे हैं। यह लोकोक्ति सत्य है, कि "ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को देखकर कुत्ते की तरह घुर घुराते हैं।" अब कोई भी हो, एक बार प्रतिज्ञा करके मना कैसे की जा सकती है। क्या आप यह चाहते हैं, मैं झूठा बनूँ ? अपनी प्रतिज्ञा को पूरी न करूँ ?"

शुक्राचार्य गम्भीरता के साथ बोले—"अरे पगले ! जिसे ये झूठा बनाने पर तुल जायँ वह सच्चा बन ही कैसे सकता है।

जिसकी प्रतिज्ञा को ये विफल करना चाहें वह सफल हो ही कैसे सकती है। तैंने इन्हें तीन पग पृथिवी देने की प्रतिज्ञा की है। ये जो तुझे इनके छोटे-छोटे कमल की पंखुड़ियों के सामन पैर दीख रहे हैं, ये तो बनावटी पैर हैं। नापते समय देखना तू। ये विश्व व्यापक वटु एक पैर से तो सम्पूर्ण पृथिवी को पाताल सहित नाप लेगें और दूसरे से आकाश में स्थित समस्त लोकों को। दो ही पैरों से ये ऊपर नीचे समस्त विश्व ब्रह्मांड को नाप ले गे। फिर तीसरा तू कहाँ से देगा। झूठा तो तुझे बनना ही है। तीन पैर दान देकर तू न दे सकेगा तो नरकमें जायगा। प्रतिज्ञा करके न देने वाले पापियों को जो यातनायें सहनी पड़ती हैं, वे तुझे सहनी पड़ेगीं। यदि झूठा बनना ही हैं, तो अभी से कह दे कि महाराज, इतना मैं नहीं दे सकता।" बात तो एक ही हुई, तू जितना ये माँगता है, उतना दे ही नहीं सकता।

दीनता के साथ बलि ने कहा—"ऐसा मत कहो गुरुदेव! अब एक बार ही मुँह से जो बात निकल गई उसका तो शक्ति भर पालन करना ही चाहिये।

शुक्राचार्य ने डाँटते हुए कहा—"अरे, तू बड़ा पगला है रे! मुँह से तो हँसी में जाने क्या क्या निकल जाता है। आदमी को अपना हित सोचना चाहिये।"

बलि बोले—"महाराज! आप तो बार बार मुझे यही शिक्षा दिया करते थे कि दान की जड़ हरी होती है। नौका में पानी बढ़ जाय, और घर में धन बढ़ जाय तो उसे लोभ से रखना न चाहिये। उलीच देना चाहिये। दान से धन की बृद्धि होती है। इस लोक में कीर्ति और परलोक में सुख मिलता है।"

शुक्राचार्य ने कहा—"भाई, इस बात को तो मैं अब भी कहता हूँ, दान करना बुरी बात नहीं किन्तु पहिले आत्मा तब परमात्मा। अपनी आजीविका की रक्षा करके जो बचै उससे दान पुण्य करना चाहिये। घर में लोग भूखों मर रहे हैं, हम दान पुण्य कर रहे हैं, तो वह दान नहीं, पुण्य नहीं। पाप है, अधर्म है। जो अपने आश्रित हैं, पहिले उनकी रक्षा करना कर्तव्य है। पंडितजन उस दान की प्रशंसा नहीं करते, जिससे अपनी आजीविका नष्ट हो जाय। आपके पास १००) प्रति मास की आय है। उसमें से २०) आप दान पुण्य करते हैं शेष से घर गृहस्थी का काम चलाते हैं, तो यह उचित है। एक साथ ही आपने सब दे डाला तो आप परिवार सहित स्वयं भूखों मरेंगे, मारे मारे फिरेंगे। दान पुण्य तो छूट ही जायगा। स्वयं दूसरों से याचना करेंगे। यह धर्म नहीं अधर्म है। जो आजीविका युक्त पुरुष है वही दान, यज्ञ, तप और सत्कर्मों का अनुष्ठान कर सकता है।"

बलि ने कहा—"इससे अच्छी और क्या बात है, अपना सर्वस्व दान धर्म में लग जाय।"

शुक्राचार्यजी ने अत्यंत ममत्व के साथ कहा—भैया, त्यागी विरागियों के लिये तो यह बात उचित हो भी सकती है, किन्तु गृहस्थियों के लिये यह बात उचित नहीं है।

बलि ने कहा—"गृहस्थियों के लिये क्या उचित है ?

शुक्राचार्य ने कहा—"उनको व्यवहारिक धर्म का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। धर्म समझ कर किसी बात पर हठ न करनी चाहिये।

बलि ने कहा—"महाराज। व्यावहारिक धर्म क्या होता है?

शुक्राचार्य जी ने कहा—"अच्छा सुनो, मैं तुम्हें व्यावहारिक धर्म बताता हूँ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह कहकर शुक्राचार्य महाराज बलि को व्यावहारिक धर्म का उपदेश देने लगे।

छप्पय

धर्म भीरु बलि कहैं-गुरो! क्यों पाप कमावैं।
दान धर्म महँ व्यर्थ आप रोड़ा अटकावैं॥
वैसे ही वटु सकुचि बहुत धन दान न चाहैं।
उलटी पड़ी तऊ आप पुनि मोइ पढ़ाएँ॥
भई कहावत सत्य यह जो प्रसिद्ध जग बात है।
वामन वामन कूँ लख, कूकरवत गुर्रात है॥



शुक्राचार्य का व्यावहारिक धर्म

(५६४)

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥*
(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

बोले शुक्राचार्य व्यर्थ तू बात बनावै ।
धर्म मर्म बिनु लखे मोइ उपदेश सिखावै ॥
अर्थं वृद्धि, यश, भोग, धर्म अरु स्वजन हेतुनर ।
करें द्रव्य व्यय सदा गृहीको यह मग सुखकर ॥
अन्न वस्त्र विनु नारि अरु, बच्चे भूखे घर मरैं ।
कर दान यश हेतु जे, तिन की निन्दा बुध करैं ॥

एक तो विशुद्ध धर्म है, जिसमें कुटुम्बियों का, प्राणों का कुछ भी लोभ नहीं । जो यथार्थ छल कपट रहित धर्म है उसी का

---

* शुक्राचार्य जी बलि को व्यावहारिक धर्म का उपदेश देते हुए कह रहे—"राजन् ! जो आदमी अपने धन का ५ भाग करके उसे धर्म में, यश कार्यों में, धन की वृद्धि में, कामोपभोग में और स्वजनों की उन्नति में व्यय करता है, वह इस लोक और परलोक में सुख पाता है ।

पालन करना। दूसरा व्यावहारिक धर्म है 'हाथ पाँव को बचाना मूँजी को टरकाना।' विशुद्ध धर्म में कर्तव्य ही प्रधान होता है। हरिश्चन्द्र ने सत्य पालन को ही धर्म समझा था, इसके पीछे उन्होंने राज्य छोड़ दिया, देश छोड़ दिया, स्त्री बेच दी, बच्चा बेच दिया, स्वयं बिक गये, किन्तु धर्म को नहीं छोड़ा। जो व्यावहारिक धर्म का पालन करते हैं, वे तब तक धर्माचरण करते हैं जब तक अपने योग क्षेम में किसी प्रकार का अन्तराय उपस्थित नहीं होता। यदि अपने जीवन पर या अपनी वृत्ति पर व्याघात देखते हैं, तो वे धर्म से कुछ हट भी जाते हैं। नीतिकारों ने उसी धर्म का आश्रय लिया है। उनका मत है कि मनुष्य यदि जीता रहेगा, तो जीवन में सैकड़ों मंगलमय धर्म कार्यों को करेगा, देखेगा। एक बात पर प्राण गवाँ देना बुद्धिमत्ता नहीं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! जब महाराज बलि ने व्यावहारिक धर्म की जिज्ञासा की, तब शुक्राचार्य जी कहने लगे—"देखो, राजन्! गृहस्थी के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं कि अपने पेट को भरले। उसे अपनी आय के पाँच भाग करने चाहिये, तथा उन पाँचों भागों को पांच कार्यों में व्यय करना चाहिए।

बलि ने पूछा—"गुरुदेव! पाँच कार्य कौन-कौन से हैं। इसे मुझे भली भाँति समझावें।

शुक्राचार्य बोले—"देखो, जैसे किसी की आय ५००) मासिक की है, तो उसे १००) धर्म कार्यों में व्यय करने का अधिकार है। क्योंकि बिना धर्म किये मनुष्य शुष्क प्रकृति का दयाहीन होता है। परलोक में धर्म ही साथ जाता है। जो हम यहाँ

करेंगे, उसे ही परलोक में पावेंगे। यह एक प्रकार से परलोक गत कोष है।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परलोक गत धर्म-कोष कैसा ?"

यह सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"महाराज! एक सेठ जी बड़े कृपण थे। उनके घर एक बड़ी धर्म बुद्धि वाली बहू आई। उसने देखा घर में कुछ भी दान पुण्य नहीं होता, तब तो वह एकान्त में जाकर कुछ देर रुदन करती। उसके ससुर ने पुछवाया, कि बहूँ को कौन सा कष्ट है जो नित्य रोती है। मेरे यहाँ किसी वस्तु को कमी तो है नहीं। उसे जो आवश्यकता हो बतावे।

बहू ने यह सुनकर अपने ससुर से कहला दिया—"मुझे यह कष्ट है, कि नित्य ही वासी रोटी खाते खाते मेरा चित्त ऊब गया है। यहाँ के सब लोग वासी रोटी खाते हैं और कुछ कोष जमा नहीं करते।"

यह सुनकर सेठ ने कहा—"बहू कैसी बातें कर रही है मेरे यहाँ तो कोई वासी रोटी नहीं खाता। मेरे पास करोड़ों रुपये जमा हैं।"

बहू ने कहा—"ये जो खा रहे है, पूर्व जन्म में जब दान पुण्य किया होगा, तभी तो खा रहे हैं। पूर्व जन्म के दिये हुये का अब उपभोग करना यह तो वासी भोजन ही हुआ। आप जो यहां जमा कर रहे हैं वह तो यहाँ का यहीं रह जायगा, परलोक के लिये आपके यहाँ कुछ नहीं होता। न दान न पुण्य।"

बहू की ऐसी बात सुनकर ससुर लज्जित हुआ और अपनी आय का पांचवां भाग दान पुण्य में बहू की सम्मति से दान करने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् ने जिसे सामर्थ्य दी है वह यदि दान पुण्य नहीं करता, परलोक के लिये कुछ पाथेय नहीं रखता तो उससे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं है। इस विषय में एक मनोरंजक इतिहास सुनिये।

एक सेठजी थे। उनके यहां एक नौकर रहता था। नौकर ग्रामीण था बड़ा सीधा सादा धार्मिक-विचार का भक्त था। प्रायः लोग सीधे धार्मिक लोगों की हँसी उड़ाया करते हैं। उन्हें मूर्ख भौंदू बनाने में उन्हें आनन्द आता है ? नौकर पुराना था, सीधा था, स्वामी के मुँह लगा था। घर के ही आदमी की तरह रहता था। वह पैसा जोड़ता नहीं था। जो मिलता था दान पुण्य में व्यय कर देता। सेठ जी कुछ कृपण थे। इधर से भी धन आवे, उधर से भी आवे, वह कोठी भी मिल जाय, यह भी मिल जाय इसी चिन्ता में रहते। जब कुछ समय मिलता, उस नौकर से हँसी ठट्ठा कर लेते।

एक दिन सेठजी को टेंढ़ामेंढ़ा सुन्दर सा एक डंडा मिल गया। उसे उन्होंने अपने नौकर को देते हुए कहा—"देखो, यह विचित्र डंडा है, जो तुम्हें अपने से मूर्ख जान पड़े उसे तुम इसे दे देना।"

सेवक ने कहा—"बहुत अच्छा महाराज।" यह कहकर उसने डंडा ले लिया। अब जब भी वह सामान लेने बाजार जाता उस डंडे को साथ ले जाता। सेठ जी उससे नित्य पूछते—"कहो कोई मिला तुमसे अधिक मूर्ख ?"

तब सेवक कहता—"नहीं श्रीमान् ! अभी तक तो कोई मिला नहीं।" यह सुनकर सेठ जी हा हा करके हँस जाते। उनके लिये यह नित्य ही विनोद की सामग्री बन गई।

एक दिन सेठ जी को विशूचिका (हैजा) हो गई चिकित्सकों ने निराशा प्रकट की। सेठ जी को भी निश्चय हो गया कि अब मैं नहीं बचने का। उनका प्यारा सेवक भी उनकी सेवा में संलग्न था। बड़ी कातर वाणी में सेठ जी ने कहा—"घासीराम ! हम अब चले।"

घासीराम ने कहा—"मैं भी चलूंगा सेठ जी आपके साथ।

सूखी हँसी हँसकर सेठ जी ने कष्ट से कहा—"अरे, वहाँ कोई साथ नहीं जाता।"

तब घासी ने कहा—"अच्छी बात है यह घोड़ा गाड़ी तो साथ चलेगी ही ?"

सेठ जी को बोलने में कष्ट हो रहा था—"उन्होने सिर हिला दिया।" किन्तु घासी तो मूर्ख ठहरा वह चुप न रहा, कहने लगा—"सेठ जी ! गाड़ी घोड़ा न चलेंगे तो कैसे काम चलेगा, सब रुपये भी लेते चलें, घी, बूरा, चावल, मसाले, गदा तकिया, बिछौने और जो जो आप कहें सबको मैं बाँध लूँ।"

सेठ जी ने कष्ट से कहा—"तू भोंदू ही रहा। अरे, वहाँ कुछ नहीं जाता। यह शरीर भी यहीं पड़ा रह जाता है केवल पुण्य पाप साथ जाते हैं।'

तब घासीराम ने डंडा लेकर सेठ जी के हाथ में थमाते हुए कहा—"अच्छी बात है, तो इस डंडे को आप ही सम्हालें। मुझसे मूर्ख तो आप ही दिखाई देते हैं, जो यह सब जानकर भी इन मिट्टियों के ठीकरों के लिये सदा मरते रहे, परलोक के

लिये दान पुण्य कुछ भी न किया ।" यह बात उपर्युक्त समय पर कही गई थी। सेठ जी के मन में बैठ गई। भगवान् की कृपा से वे अच्छे हो गये और आगे से दान पुण्य करने लगे।

सूतजो कहते हैं—"मुनियो ! इसलिये अपनी आय का पाँचवां भाग धर्म कार्यों में अवश्य व्यय करना चाहिये।" इसीलिये शुक्राचार्य ने अपनी आय का पंचामांश धर्म कार्यों में व्यय करने को कहा।

शुक्राचार्य जी महाराज बलि को नीति का उपदेश देते हुए कह रहे हैं—"राजन् ! ५००) मासिक आय में से १००) तो धर्म कार्यों में लगावें । १००) रुपया यश बढ़ाने के कार्य में लगावें क्योंकि संसार में जिसका यश नहीं वह जीवित भी मृत के समान है। उसके मनुष्य होने में कौन सी विशेषता है। सूकर कूकर भी तो पेट भर लेते हैं। इसलिये यशोपार्जन के लिये अपनी आय का पंचमांश लगावे। विद्यार्थियों को सहायता दें। अन्नक्षेत्र लगादें, दातव्य औषधालय बनवा दें, धार्मिक पुस्तकों के प्रसार में व्यय करे। जिस शुभ कार्य से भी यश बढ़े उसी में लगावें।

एक पंचामांश को फिर धन बढ़ाने के ही लिये उसी में लगावे। इससे धन नित्य प्रति बढ़ता जाय, मूल धन की वृद्धि होती रहे। १००) उसमें लगावे। १००) अर्थात् आय का पंचमांस अपनी शरीर और शरीर से सम्बन्ध रखने वालों के सुखोपभोग में लगावे। गद्दा, तकिये, वाहन, सवारी विविध भांति खाने पीने की वस्तु, संगीत तथा अन्य मनोरंजनों के कार्यों में व्यय करे। धन पाकर जिसने उसका उपभोग नहीं किया, तेली के बैल की भाँति निरंतर कोल्हू में ही जुतता रहा, तो

उसका धन होना न होना बराबर है ?" उसमें और नौकर मुनीमों में अन्तर ही क्या रहा ?" इसलिये पंचमांश से सुखो- पभोग भी करना चाहिये।

शेष पंचमांश को अपने स्वजन बन्धु बान्धवों और जाति कुल वालों की सहायता में व्यय करना चाहिये । अपने तो सुख भोग रहे हैं हमारे स्वजन कुल परिवार वालों को भोजन भर को भी नहीं ऐसे लोगों की यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये। कुल वाले सम्पन्नों से मन ही मन आशा लगाये रहते हैं, कि हमारे दूसरे भाई सम्पन्न हैं, हमारी सहायता करेंगे। जिसने जन्म लेकर योग्यता प्राप्त करके अपने कुल वालों की सहायता नहीं की उसका जन्म और विद्या तथा योग्यता सब व्यर्थ हैं। इसलिये राजन् ! कुल की उन्नति में पंचमांश अवश्य व्यय करे।

शुक्राचार्य कह रहे हैं—"राजन् ! गृहस्थी को इसी प्रकार अपनी आय को व्यय करना चाहिये । धन सम्पत्ति पर उसका अकेले ही अधिकार नहीं है। परिवार वालों के सभी लोगों का उस पर अधिकार है। यह जो तीन पग पृथिवी बौंना वामन मांग रहा है यह तो दो पैरों में ही आपका सर्वस्व ले लेगा सर्वस्व देने का आपको क्या अधिकार है ? इसीलिये मैं मना करता हूँ, कि आप इसके चक्कर में न फँसे। इसे पृथिवी आदि का संकल्प न करें।

महाराज बलि ने कहा—"भगवान् ! हाथ में जल कुशा लेकर ही संकल्प थोड़े ही कहाता है। मन से हमने संकल्प कर लिया यह वस्तु देनी है अथवा वाणी से कह दिया हम आपको देंगे, तो यह संकल्प हो गया। जल कुशा लेकर मन्त्र पढ़ना तो उसकी पुष्टि मात्र है शारीरिक क्रिया है। मैं मन से और वचन से तो

संकल्प कर ही चुका हूँ। अव यदि संकल्प करके नहीं देता, तो भी नरक का गामी बनूँगा। तो क्या आपके किसी शास्त्र में ऐसा लिखा है, कि संकल्प करके भी न देना।"

शुक्राचार्य ने कहा—"हाँ, क्यों नहीं ! यह तो वेदों का मत है।"

हँसकर महाराज बलि बोले—"ब्रह्मन् ! यह वेद में लिखा है, या लवेद में ? किस वेद में ऐसी बात लिखी है।"

शुक्राचार्य ने कहा—'ऋग्वेद की कई ऋचाओं में मेरी बात की पुष्टि की गई है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ, सुनिये।'

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यह कहकर शुक्राचार्य अपने कथन की पुष्टि में वैदिक ऋचाओं के मनमाने अर्थ करने लगे।

छप्पय

घर महँ बालक नारि मातु पितु तजि के भाई।
बिनु पूछे जो दान करै सो पाप कमाई॥
बोले बलि गुरुदेव ! दान दै दीन्हों मनतें।
अब कस झूठो बनूँ ब्रह्मचारी वामन तें॥
कहि कै देऊँ दान नहिँ, तो पीछे पछिताऊँगो।
दोषी हौं ह्वै जाऊँगो अन्त, नरक महँ जाऊँगो॥



शुक्राचार्य द्वारा गोलमोल धर्म

(५६५)

पराग् रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत् तदोमिति ।
यत्किंचिदोमिति ब्रूयात् तेन रिच्येत वै पुमान्॥
भिक्षवे सर्वमोङ्कुर्वन्नालं कामेन चात्मने ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० ४१ श्लोक)

छप्पय

सुनि कै शुक्राचार्य कहैं तू धर्म न जानै ।
धर्म तत्व अति गूढ़ विज्ञ नर ही पहचानै ॥
'हां देंगे, ये वचन, अर्थ व्यापक के द्योतक ।
सदा कहै नहिँ देहिँ धर्म यश के ये शोषक ॥
बिनु विचार दै देहिँ जे, ते पीछें माँगत फिरहिं ।
ऐसे दाता कूं सदाँ, भिक्षुक नितई तंग करहिं ॥

वेद शास्त्र में अनेक प्रकार के वचन होते हैं। उनमें सभी अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपने मत को पुष्ट करते हैं।

---

*श्री शुक्राचार्य बलि को समझाते हुये कह रहे हैं—"देखो, राजन् ओम् अर्थात् हाँ देंगे । यह शब्द अपूर्ण है दूर का द्योतक है और खाली करने वाला है। जो कुछ है वह दे देंगे ऐसा कहने वाला पुरुष सर्वत्र रिक्त हो जाता है। जो भिक्षुक के आते ही कह देता है सब देंगे, वह अपने भोगों को भी सुरक्षित नहीं रख सकता ।

भगवान् वेद व्यास रचित ब्रह्म सूत्र एक ही हैं उस के भिन्न भिन्न आचार्य भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं। कोई उनमें से द्वैत निकालते हैं, कोई अद्वैत कोई विशिष्टाद्वैत, तो कोई शुद्धाद्वैत। इस प्रकार सभी उनसे अपने मत को स्थापित करते हैं।

यह जगत् त्रिगुणात्मक है इसी प्रकार वेद त्रैगुण्य विषय वाले हैं, जो जैसे गुण वाला होगा वेदों से वैसा ही भाव ग्रहण करेगा। पंसारी की दूकान पर त्रिफला (सौंठ, मिरच पीपल) आदि रसायनिक वस्तुएँ भी हैं, और कुचला संखिया आदि विष भी। सभी प्रकार के मसाले हैं, अन्य वस्तुयें हैं जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता होगी, वह उसे ही ले आवेगा इसी प्रकार वेद में कुछ ऐसा व्यावहारिक बातें भी हैं, जो किसी भी अभिप्राय से कही गई हों किन्तु कुछ नीतिज्ञ उन्हें ही अपनी स्वार्थ सिद्धि के निमित्त परम प्रमाण मान कर उपदेश देते हैं।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! असुराधिप महाराज बलि ने जब अपने गुरु से यह कहा कि वामन को तीन पग पृथिवी देने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अब उसे न देकर प्रतिज्ञा का उल्लंघन करके मिथ्या भाषण का अपराध कैसे कर सकता हूँ, तो इस पर शुक्राचार्य कहने लगे—राजन् ! सत्य क्या है, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। कभी कभी सत्य सी दिखाई देने वाली बात असत्य हो जाती है। कभी कभी असत्य सी प्रतीत होने वाली ही बात सत्य मानी जाती है।"

बलि ने कहा—"महाराज, ऐसा तो सन्देह वाक्यों में सम्भव है, यहां तो स्पष्ट है। एक बार हमने किसी वस्तु के विषय में

याचक से कह दिया "हाँ देंगे" फिर उसे न देना, यह तो निर्विवाद असत्य है। आप मुझसे असत्याचरण क्यों करा रहे हैं।

शुक्राचार्य ने डांट कर कहा—"देखो, भैया ! लड़कपन तो करो मत। बात को समझो। जिसे "हां" कहकर स्वीकार किया जाता है, वह सत्य है। "ब्रह्म है" यही सत्य है, जिसे "ना" कहकर निषेध किया जाता है, वह असत्य है। अच्छा देखो, ध्यान पूर्वक समझना। यह जो हमें ज्ञान होता है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, किसके द्वारा होता है ?"

बलि ने कहा—"महाराज, यह ज्ञान तो शरीर संसर्ग से ही होता है ?"

प्रसन्न होकर शुक्राचार्य बोले—"हां, यही बात है। ज्ञान प्राप्ति का साधन भूत तो यह शरीर ही है। इस देह की उत्पत्ति असत्य से ही हुई है, मूल प्रकृति में विकृति होने से ही २४ तत्वों की उत्पत्ति होती है। यह सब पदार्थ नाशवान हैं, मिथ्या हैं, असत्य हैं। इन असत् पदार्थों से बने देह द्वारा सत्य स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। अतः इस देह रूप वृक्ष का मूल असत्य हुआ और साधन रूप ज्ञान फूल और मोक्ष रूप फल हुआ। यदि असत्य अर्थात् देह ही न रहे, तो ज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जड़ कट जाने पर जैसे वृक्ष सूख जाता है वैसे ही जिसका असत्य देह नष्ट हो गया है, उसका देह भी तत्काल सूख जाता है, इसमें सन्देह नहीं।"

बलि ने आश्चर्य के साथ कहा—"भगवान् ! आज तो आप यह बड़ी नई बात सुना रहे हैं। तब तो मनुष्य को सदा असत्य ही बोलते रहना चाहिये।"

शुक्राचार्य ने शीघ्रता के साथ कहा—"मेरा यह अभिप्राय नहीं कि सदा असत्याचरण ही करे। यथाशक्ति सत्य ही बोले असत्य से बचता रहे, किन्तु जहाँ अजीविका जाती हो, जहाँ शरीर रक्षा का प्रश्न हो, वहाँ केवल युक्ति से काम लेना चाहिये। सर्वदा असत्य भी न हो और अपना सर्वस्व नाश भी न हो।"

बलि ने कहा—"महाराज ! यह तो प्रत्यक्ष असत्य है। वटु वामन ने कहा—"मुझे तीन पग पृथिवी दीजिये। मैंने कहा "हाँ दूँगा" इसमें अब युक्ति क्या निकल सकती है। "हाँ दूँगा" कहकर न देना, यह तो निर्विवाद असत्य है।"

शुक्राचार्य ने कहा—"भैया, मैं जो कह रहा हूँ, तुम उस बात के मूल तक तो जाते नहीं। ऊपर ही ऊपर विचार कर रहे हो। तुम्हारे पास नित्य याचक आते हैं विविधि वस्तुएँ माँगते हैं। तुम कह देते हो, "हाँ दूँगा" हाँ करने से तुम्हारा यह अभिप्राय तो है नहीं कि मैं सर्वस्व दूँगा, अपने शरीर, स्त्री, पुत्रों तथा राज्य कोष की रक्षा करते हुए दूँगा, यही अभिप्राय है। "हाँ मैं दूँगा" इस वचन का बड़ा व्यापक अर्थ है। पहिला अर्थ तो यह है कि मेरे पास जो वस्तु रखी है उसे में उठाकर अपना ममत्व उसमें से निकाल कर तुमको दे दूँगा, परन्तु क्या दे दूँगा, कितना दे दूँगा, कब तक के लिए दे दूँगा दास के लिए दूँगा, या अल्प काल के लिए दूँगा, इन सब बातों का इसमें कोई संकेत नहीं। भिखारी का तो काम ही हैं, सदा माँगते

रहना। दाता को देते समय ध्यान रखना चाहिये, किसी से अन्न माँगा, हमने कहा—"हाँ देंगे" तो यह अभिप्राय नहीं, हमारे घर में जितना अन्न है, सब उठाकर दे दें। जितना उचित समझेंगे, उतना दे देंगे। यदि ऐसे हम जिसने जो मांगा, वही देते रहें तब तो हमारे पास कुछ रहेगा ही नहीं- लेने वालों की कमी नहीं, आप जितना भी देंगे उतना ही ले लेंगे। बिना परिश्रम के आता हुआ धन किसे बुरा लगता है। भिक्षुक को तो ब्रह्मांड का राज्य दे दो तो भी उसकी तृप्ति नहीं होने की। इसलिए दाता को समझ बूझ कर देना चाहिये। "हाँ दूँगा" हाँ दूँगा इसे निरन्तर कहने वाला धन से हीन निर्धन हो जाता है, और जो हाथ को खींचे रहता है, जो माँगता है, उसे भी नकारात्मक उत्तर देता है, तो उसके पास लक्ष्मी ठहरती है। इसीलिए तो धनी कृपण होते हैं। कृपणता किये बिना धन एकत्रित होता ही नहीं।"

बलि ने हँसकर कहा—"तो महाराज! उसका अभिप्राय तो यह हुआ कि जो भी माँगने आवे उससे सदा "नाहीं" ही कर देनी चाहिये। कभी किसी से न कहे कि मैं दूँगा, क्योंकि देने से तो धन खाली होता ही है।"

इस पर शुक्राचार्य जी बोले—"नहीं, नहीं भैया! तुम मेरा अभिप्राय तो समझते नहीं। मैंने एक सिद्धान्त की बात बताई कि भिक्षु को सर्वस्व दान करने वाला अपने आवश्यक भोगों को भी सुरक्षित रखने में समर्थ नहीं होता, इससे विपरीत "नहीं दूँगा।' ऐसा कहने वाला अपनी सब वस्तुओं को सुरक्षित रखता है। सदा धन धान्य से सम्पन्न बना रहता है, किन्तु ऐसे कृपण की सब निन्दा करते हैं। प्रातः काल उसका

कोई नाम भी नहीं लेता। संसार में सभी कहते हैं वह बड़ा मक्खीचूस है। जिनकी मक्खीचूस करके संसार में प्रसिद्धि है, वह जीवित ही मृतक के समान हैं, न स्वयं खाता है न दूसरों को देता है।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी, मक्खीचूस किसे कहते हैं ?"

यह सुनकर सूत जी हँस पड़े और बोले—"महराज, यह एक लोकोक्ति है। इसका, अभिप्राय यह है कि अणुमात्र भी अपनी वस्तु दूसरे को न दे उसे मक्खीचूस कहते हैं। एक कृपण था, वह लड्डू बनाने के लिये शक्कर की चासनी बना रहा था, दैवयोग से उसमें एक मक्खी पड़ गई। मक्खी उसने निकाल लीं। वह तो कृपण था ही उसने सोचा—"इस मक्खी के परों में जो चासनी चिपट गई है, वह व्यर्थ ही जायगी, मेरे काम न आकर चींटी ही खायँगी, अतः उसने उस मक्खी को मुँह में रखकर चूस लिया, उसके पंखों में लगी चासनी को व्यर्थ न जाने दिया, उसका भी उपयोग अपने लिये कर लिया।" तभी से यह बात प्रचलित हो गई जो अत्यन्त कृपण होता है उसे लोग मक्खीचूस कहते हैं। ऐसे लोगों से अन्य लोगों की तो बात ही क्या स्त्री पुत्र भी घृणा करते हैं। सभी चाहते हैं यह कृपण कब मरै। कब हमें भर पेट भोजन मिले, ऐसे लोग केवल दूसरों के लिये धन एकत्रित करते हैं। जीते जी न खायेंगे, न देंगे न किसी पुण्य काम में लगायेंगे। इसीलिये छोटे छोटे बच्चे कृपणों को देखकर चिढाते हुए करते हैं—"जोड़ जोड़ रख जायेंगे माल ज़माई खायेंगे।"

शुक्राचार्य जी महाराज बलि से कह रहे हैं—"राजन् ! मनुष्य को कृपण न होना चाहिये। जो आवे उसी से मना न करना चाहिये। किसी ने आकर हजार रुपये माँगे तो कह दिया—"अच्छी बात है महाराज यथाशक्ति देंगे।" फिर अपना वित्त देकखर उसे १००) ५०) दे दे ! हाथ जोड़ दे, महाराज इतना ही है अब कृपा करो।" इस प्रकार न तो सर्वथा मना करके अपयश का ही भागी हो और न सर्वस्वदान करके स्वयं भिखारी ही बन जाय। मध्यमार्ग का आचरण करे।"

बलि ने कहा—"हाँ महाराज। इसे तो मैं मानता हूँ, यदि हमने यह कह दिया कि हम जितना देना चाहेंगे, उतना देंगे। तब तो चाहें हम एक दें हजार दें स्वतन्त्र हैं देने में किन्तु जिसने हमसे पहिले ही प्रतिज्ञा कराली है कि मैं इतना लूँगा और हमने कह दिया हाँ हम इतना ही देंगे। फिर उतना न दें तो यह तो असत्य ही हुआ। वामन ने कहा—"मैं अपने पैरों मे तीन डग पृथ्वी लूँगा, और मैंने कहा—"मैं आपको इच्छानुसार हो दूँगा।" तो इसमें तो अब कोई गोलमाल करने योग्य बात रही नहीं।"

शुक्राचार्य ने कहा—"देखो, तुम इसमें इतना संशोधन कर लो। तुमने कहा—"मैं पृथ्वी दूँगा, तीन पग दूँगा, तुम्हारे पैरों से दूँगा। तुम पृथ्वो दो, ३ पग की अपेक्षा ३०० पग दे दो, किन्तु कह दो वामन देवता हम तुम्हारे पैरों से नहीं नापेंगे इतना ही मैं चाहता हूँ, इसमें कोई हानि भी नहीं। भिक्षुक के माँगने से अधिक दे रहे हैं।"

बलि राजा ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज। देखिये, बुरा न मानें। यह तो सफेद झूठ हुआ। वामन बार बार कह रहा

है, मुझे तीन पग से अधिक नहीं चाहिये, अधिक भी न लूँगा, कम भी न लूंगा और अपने पैरों से नाप कर लूंगा मैंने कहा ऐसे ही दूंगा। फिर उस पर यह प्रतिबन्ध लगाना कि हम तुम्हारे पैरों से न देंगे। झूठ व्यवहार है। क्या ऐसा झूठ बोलना धर्म है?"

शुक्राचार्य ने मधुर वचनों में कहा—"हां, झूठ तो है ही भाई। किन्तु कई स्थान ऐसे होते हैं, कि उस समय यदि झूठ भी बोल दिया जाय, तो कोई दोष नहीं समझा जाता।"

बलि ने कहा—"महाराज झूठ ही है उससे तो बचते ही रहना चाहिये।"

शुक्राचार्य जी ने कहा—"देखो, मैं बताता हूँ, किन किन अवसरों पर झूठ क्षम्य है। जहाँ झूठ बोलना बहुत दोष नहीं माना जाता।

श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन्। यह कहकर शुक्राचार्य अपवाद धर्म की शिक्षा देने लगे।"

छप्पय

नहीं सर्वथा करै न निज सर्वस्व गँमावै।
भिक्षुक आवै देंइ कछु कछु टाल बतावै।
अपनी वृत्ति बचाय वित्तसम करै दान नित।
लोक और परलोक माँहि राखे अपनो चित॥
रक्षा तन धन की करै सदा सत्य बोले बचन।
कहुँ असत्य बोले विवश, ह्वै प्रसंगवश विज्ञजन॥



कहाँ असत्य निन्दनीय नहीं होता

(५६६)

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० ४३ श्लोक)

छप्पय

हँसी खेल महँ और कामिनी क्रीड़ा मांही।
होंहि जीविका नाश प्रान काहू के जाहीं॥
निज प्राननि के हेतु विप्र गौ रक्षा होवे!
तो विशेष नहिं दोष सत्य कूँ यदि नर खोवे॥
मातु पिता अति वृद्ध हैं, बालक अति अज्ञान हैं।
जस तस प्राननि कूं रखै, मुख्य देह महँ प्रान हैं॥

एक नियम होता है और एक उस नियम का अपवाद होता है, तथा एक विवशता होती है। जैसे नियम तो यह है

---

* शुक्राचार्यजी राजा बलि से कह रहे हैं—"राजन्! स्त्रियों के विषय में, हँसी में, विवाह में, जीविका रक्षा में, प्राण संकट के समय गौ ब्राह्मण की रक्षा में, किसी का वध हो रहा हो उस समय इन अवसरों पर झूठ बोलना निन्दित नहीं कहा जाता।"

कि सब्र सन्ध्या वन्दन करना चाहिये अपवाद यह है कि सूतकों में न करना चाहिये, विवशता यह है कि कोई बड़ा उत्सव है. यात्रा में अवकाश नहीं मिला या किसी परोपकर के कार्य में संलग्न हैं, सन्ध्या करने का अवकाश ही न मिला, तो यद्यपि सन्ध्या का लोप हुआ अवश्य, किन्तु वह दोष, दोष नहीं गिना जाता, वह क्षम्य अपराध है। इसी प्रकार अन्य नियमों में भी समझना चाहिये।

जब राजा बलि ने बार बार शुक्राचार्य को यह कह कह कर निरुत्तर करना चाहा। कि क्या आप मुझसे झूठ बोलने को कहते हैं, तब शुक्राचार्य ने कहा यदि ८ अवसर पर झूठ बोलना ही पड़े तो कोई दोष नहीं।"

महाराज बलि ने पूछा—"महाराज! वे ८ अवसर कौन कौन से हैं?"

शुक्राचार्य ने कहा—"देखो, पहिले तो यह है कि स्त्रियों को प्रसन्न करने को यदि झूठ बोलना भी पड़े तो कोई विशेष दोष नहीं होता। बड़ी बूढ़ी स्त्रियाँ तो अपनी हानि लाभ सब समझती हैं, उन पर तो पुत्र पौत्रों का भार आ जाने से अपनी हानि लाभ की स्थिति समझती हैं, और बूढ़ी होने से साज शृंगार की इच्छा भी कम हो जाती है, किन्तु जो नई नई बहू आती हैं, उन्हें कुछ अनुभव तो होता नहीं। नित्य ही नये नये वस्त्रों के लिये आभूषणों के लिये, पति से, अड़ जाती हैं। न देने पर मुंह फुलाकर बैठ जाती हैं किसी की अच्छी चटकीली साड़ी देखी तो आकर पति से कहती हैं—"सुनते हो, कल मैं कमला के विवाह में गई थी। बड़े जेठ जी की लड़की जो काशी से आई थी, वह एक ऐसी सुन्दर साड़ी पहिने थी कि मेरा

मन उसमें गढ़ गया। मैंने पूछा—"लल्ली! यह साड़ी कब ली थी।"

उसने कहा—"चाचीजी! इसे ४ वर्ष हो गये, जितना ही इसे धोते हैं, उतनी ही इसमें चटक बढ़ती जाती है। बहुत मूल्य भी नहीं।" तब से मेरे मन में उसी का ध्यान है ऐसी साड़ी एक मुझे भी मँगा दो।"

अब उसे तो पता नहीं, महीने में कितना वेतन मिलता है, एक साड़ी लेदें तो खायेंगे क्या? वह अड़ जाती है। ऐसे समय फुसलाने को कहना चाहिये—"अच्छी बात है, अब के महीना पूरा होने दो, मुझे काशी जाना भी है, लादूंगा।" ऐसे कहकर टाल मटोल कर देनी चाहिए। फिर चाहें साल भर में भी न ले सकें। शक्ति भर तो सत्य ही बोलना चाहिये, किन्तु वस्त्र आभूषण, या और छोटी छोटी बातों पर लड़ाई झगड़े की सम्भावना हो. तो वहाँ कोई हरिश्चन्द्र की भाँति सत्यवादी ही हो, तो उसकी बात तो पृथक् है, नहीं तो बड़े बड़ों को स्त्रियों के सम्मुख ऐसी बातें बनानी पड़ती है, और ऐसे समय का असत्य बहुत निन्दित भी नहीं। व्यवहार में प्रायः ऐसा करना ही पड़ता है। स्त्रियाँ बात बात पर अड़ जाती हैं, कोई बात बताने की होती है, कोई नहीं बताने की। स्त्रियाँ किसी बात को अपने पेट में छिपा सकती ही नहीं। उनसे कोई गुप्त बात कह दो तो वे बातों ही बातों में काना फूंसी करेंगी। यों ही उगल देंगी। दूसरी से कहेंगी तू किसी से कहना मत कि वह ऐसे कहती थी। वह तीसरो से ऐसे ही कहेगी। ऐसे ही बात फैल जाती है। इसलिये स्त्रियाँ किसी गुप्त बात पर अड़ जायँ, तो उन्हें या तो इधर उधर की बातें कहकर टाल देना चाहिये या किसी प्रकार समझा देना चाहिये।"

क्रौञ्च देश के राजा सभी जीवों की बोली समझते थे। एक योगी ने उन्हें यह विद्या बता दी थी। योगी ने यह भी कह दिया था, कि आप इस बात को किसी से कहेंगे तो आपके प्राण निकल जायेंगे। एक दिन वे अपने अन्तःपुर में बैठे थे। कुछ चीटियां आपस में बातें करती जाती थीं। वे भी पहले जन्मों में रानियां थीं। उनकी बातें सुनकर राजा को हंसी आ गई। रानी भी पास ही बैठी थी। उसने समझा राजा मेरे ऊपर हंस रहे हैं।

क्रुद्ध होकर रानी बोली—"महाराज ! आप मुझे देखकर क्यों हँस रहे हैं ?"

राजा ने धैर्य के साथ कहा—"देवि ! मैं तुम्हारे ऊपर नहीं हंस रहा हूँ, एक बात और है।"

रानी ने पूछा—"क्या बात है, उसे मैं सुनना चाहती हूँ, मुझे अवश्य बताइये।

राजा ने कहा—"देखो, यदि मैं उसे बता दूंगा, तो मेरी मृत्यु हो जायेगी। तुम मुझसे इस बात को मत पूछो।" किन्तु स्त्री जब हठ कर जाती है, तो ब्रह्मा की भी बात नहीं मानती। वह बोली—"नहीं महाराज ! चाहे जो हो, आपको मुझे हंसी का कारण बताना ही पड़ेगा। आप न बतावेंगे, तो मैं बिष खाकर मर जाऊंगी।"

राजा बड़े धर्म सङ्कट में पड़े उन्होंने जाकर योगी से कहा। योगी ने कहा—"उसे मर जाने दो मरेगी नहीं वसे ही हठकर रही है। उसे बताना मत।" राजा ने ऐसा ही किया कह दिया तू चाहे मर जा या जीवित रह, मैं न वताऊंगा।" राजा ने तो योगी के कहने से सत्य की रक्षा करली, किन्तु यदि

किसी कारण पुरुष की स्त्री ऐसी किसी बात पर अड़ जाय तो उसे इधर उधर की बातें बताकर शांत कर देना चाहिये। जब कुन्ती ने कर्ण की बात छिपा ली तो धर्मराज ने स्त्री जाति को शाप दे दिया, कि वे किसी बात को छिपाकर नहीं रख सकतीं। इसलिये जो बात किसी पर प्रकट न करने की हो उसे स्त्रियों से बचावे। इसमें विशेष दोष नहीं।

दूसरे हँसी खेल में यदि झूठी बातें मुंह से निकल जायँ, तो उतना दोष नहीं। चेष्टा ऐसी ही करनी चाहिये कि हँसी में भी झूठी बात मुख से न निकले, फिर भी हँसी में बहुत सी झूठी बातें निकल जाती हैं। लड़की को प्यार से गोदी में उठा कर कहते हैं—"ला, तुझे गंगा जी में फेंकता हूँ।" लड़की भी समझती है, ये फेंकेंगे थोड़े ही प्यार में हंसी कर रहे हैं, हम भी फेंकने की भावना से नहीं कहते। नाटकों में जो राजा नहीं है, वह राजा का झूठा वेष बना लेता है। और बार बार कहता है मैं राजा हूँ, यह करूंगा, वह करूंगा, इसे मारूंगा, इसे पछाड़ूंगा। बातें सब झूठी ही है, किन्तु खेल की बातें हैं इनमें असत्य जनित पाप का दोष नहीं लगता।

तीसरा स्थान है, विवाह प्रसंग। कोई लड़की है यदि कह दे कि वह बहुत काली है, तो उसका विवाह नहीं होता। तो बात को छिपाकर कह दें कि लड़की बड़ी सुन्दर है, तनिक सांवला पन है, सो कोई बात नहीं। इसी प्रकार किसी वर का विवाह नहीं होता निर्धन है और यह कह देने से उसका विवाह हो जाता है कि लड़का सम्पन्न है खाता पीता है, लड़की सुखी रहेगी तो कोई दोष नहीं। विवाह के पहिले ही कारी, गोरी, धनी, निर्धन का विचार होता है जहाँ बिवाह हो गया दूल्हा दुलहिन मिल गये सब बातें पुरानी पड़ जाती हैं।

फिर तो निभाने की चिन्ता रह जाती है। इसलिये कन्या वर आदि की स्तुति के समय कुछ असत्य भाषण भी हो जाय तो उसका दोष नहीं।

चौथा स्थान है आजीविका का प्रसग। वाणिज्य व्यापार करते हैं वहां कह दिया कि अमुक वस्तु को १०) से कम में न देंगे और फिर देखेंकि ९) में। देने से घाटा नहीं तो ९) में दे देने से कोई विशेष दोष नहीं। इसी प्रकार अपनी आजीविका जा रही हो और कोई ऐसी युक्ति हो, कि अमुक बात छिपा देने से आजीविका बच जाय, तो उस बात को छिपा देना कोई विशेष निन्दनीय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीवन से भी प्यारी जीविका होती है।

पाँचवा स्थान है, प्राणों का संकट उपस्थित होना। कोई ऐसा अवसर आ गया, कि प्राण जा रहे हैं, यदि वे कुछ असत्य बात कह देने से बच जायँ, तो उस बात को—कहकर प्राणों की रक्षा कर लेनी चाहिये। जीवित रही तो इस पाप का प्रायश्चित्त तो करही लेंगे और भी अधिक पुण्य कमा लेंगे। प्राणों की रक्षा के लिये विश्वामित्र जैसे ऋषि ने अखाद्य पदार्थ चुराया था। एक ऋषि अत्यन्त भूखे थे, भूख के कारण उनके प्राण निकल रहे थे। उन्होंने देखा एक हाथी चलाने वाला उबले उड़द खा रहा है। ऋषि ने उससे अन्न मांगा। उसने कहा—"ब्रह्मन्! ये उड़द हैं तो सही मेरे पास, किन्तु उच्छिष्ट हैं।" ऋषि ने कहा—"अच्छा उच्छिष्ट ही दे दो।" उसने ऋषि को दे दिये। ऋषि ने उसे खा लिया। जब वह हस्तिप उन्हें जल देने लगा तब ऋषि ने कहा—"मैं तुम्हारा जल न पीऊँगा।"

हस्तिप ने आश्चार्य के साथ कहा—"ब्रह्मन्! जूठे उड़द खाने

में तो आपका धर्म गया नहीं मेरे हाथ से शुद्ध जल पीने में आपका धर्म कैसे चला जायगा।"

ऋषि ने कहा—"बन्धुवर ! उस समय मैं बहुत भूखा था। यदि मुझे कुछ खाने को न मिलता तो मेरे प्राण चले जाते। इसलिये मैंने प्राणों की रक्षा के लिये वे उच्छिष्ट उड़द खा लिये थे, कि जीवित रहूँगा। तो इस पाप का प्रायश्चित कर लूँगा, किन्तु जल ता सर्वत्र प्राप्त है, यदि प्राप्त होने पर भी उसे मैं आलस्य प्रमादवश पीता हूँ, तो मुझे दोष लगेगा। उसका कोई प्रायश्चित नहीं। अतः प्राण रक्षा के लिये कुछ अनुचित भी कार्य करना पड़े, तो जीवन की रक्षा चाहने वाले व्यक्ति को उस कार्य को करके जीवन की रक्षा कर लेने में कोई अधिक दोष नहीं।

छटा स्थान है गौ की रक्षा। गौएँ लोक की मातायें कही गई हैं। प्राण देकर भी गौ रक्षा करनी चाहिए। यदि गौओं की रक्षा करते समय कुछ झूँठ भी बोला जाय, तो निन्दनीय नहीं, गौ हत्यारे को शक्तिभर जो भी दण्ड दिया जा सके देना चाहिये। गौ रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है अजन्मा होकर भी भगवान् गौओं और ब्राह्मणों की रक्षा के लिये ही जन्म लेते हैं। समस्त देवता पितर गौ की शरीर में निवासी करते हैं। गौ के गोबर में लक्ष्मी जी रहती हैं। गौ के सेवा करना समस्त देवताओं की रक्षा करना है। गौ भागी जा रही हो और कसाई उसके पीछे लगा हो, वह यदि पूछे गौ इधर से गई, तो वहां सत्य बोलना अनुचित ही नहीं अधर्म हे वहां जैसे हो तैसे गौ को बचाना चाहिये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पाप तो पाप ही है। सत्य बोलने से अधर्म कैसे हो सकता है ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! कहीं कहीं सत्य सा दीखने वाला कार्य अधर्म हो जाता है और कहीं असत्य सा दीखने वाला धर्म हो जाता है। इस विषय में आपको मैं एक इतिहास सुनाता हूँ।"

एक बड़े अच्छे भगवत् भक्त संत थे। वे चारों धामों की पैदल यात्रा कर रहे थे। यात्रा करते करते जब वे श्री जगन्नाथ पुरी जा रहे थे, तो रात्रि में एक गृहस्थ के यहाँ ठहरे। साधु युवा थे, अत्यन्त ही सुन्दर थे। उस घर में एक वृद्ध थे उनके एक युवती स्त्री थी। स्त्री ने सन्त का बड़ा स्वागत सत्कार किया। बड़े प्रेम से भोजन कराये और रात्रि में वहीं रहने का आग्रह किया। सन्त भोले भाले थे, अतः उनकी श्रद्धा देखकर ठहर गये।

रात्रि में जब सब सो गये, तो वह स्त्री सन्त के समीप आयी और उनसे अनुचित प्रस्ताव करने लगी। "सन्त ने कहा—"तुम अपने पति को भजो"—पति के रहते किसी पुरुष के समीप आना उचित नहीं।" उसने इसका अर्थ लगाया, कि तुम अपने पति को काट दो उसके रहते मेरे पास न आओ।" उसका तो मन मलिन हो ही गया था। अतः वह गई और एक खड्ग से अपने पति का सिर काट आई और फिर सन्त के समीप आई।

सन्त ने कहा—"देवि ! तुम कैसा पाप पूर्ण प्रस्ताव कर रही हो, तुम मेरी माता के समान हो। ऐसा व्यवहार तुम्हें शोभा नहीं देता।" साधु की इन बातों का उस पर विपरीत ही प्रभाव पड़ा उसके सिर पर तो काम भूत सवार हो रहा था अपनी इच्छा पूर्ति न देखकर स्वार्थ में व्याघात समझकर उसको प्रतिहिंसा की वृत्ति जाग्रत हो उठी और चिल्लाने लगी—"चलियोरे, इस मनुष्य ने मेरे पति की हत्या कर डाली है।" हल्ला-गुल्ला सुनकर इधर उधर से बहुत से मनुष्य एकत्रित हो गये।

राजकर्मचारी भी आ गये। सन्त पकड़े गये राजा के यहाँ उपस्थित किये गये। पुरुष तो मरा ही था। राजा ने उन सन्त के दोनों हाथ कटवा लिये। सन्त ने सोचा—"यह भी मेरे किसी पूर्व जन्म का पाप है। इसकी निवृत्ति तो भोग से ही होगी।" यह कह-कर वे जगन्नाथ जी चले गये। आगे चलकर उन्हें कोई सिद्ध मिले उनसे उन्होंने पूछा—"भगवन्! अकारण धर्म कार्य करते हुए भी मुझे यह यातना क्यों सहनी पड़ी।"

सिद्ध ने कहा—"सन्तजी, कोई भी मनुष्य किसी को कभी अकारण पीड़ा नहीं दे सकता। जिनसे अपना पूर्वजन्म का कुछ संस्कार रहता है, वे ही दुःख सुख दे देकर अपना बदला चुकाते हैं।"

सन्त जी ने पूछा—"भगवन्! मैंने इन माता जी का कौन सा अनिष्ट किया था।"

सिद्ध बोले—"महात्मन्! आप पूर्व जन्म में काशी जी में बड़े विद्वान् कर्मकांडी सत्यवादी ब्राह्मण थे। एक दिन आप दशाश्वमेध घाट पर स्नान कर रहे थे, उसी समय एक वधिक की गौ छूट आई। वह भी पीछे दौड़ा आपने गौ को गली में घुसते देखा।

बधिक ने आकर आपसे पूछा—"पंडित जी! आपने मेरी गौ देखी है?"

आपने दोनों हाथ उठाकर कह दिया—"हाँ, मैंने अभी जाती हुई देखी है।" आपके बताने से दौड़कर उसने गौ पकड़ ली और वधशाला में ले जाकर उसका बध कर दिया।

कालक्रम से वही गौ आकर यह स्त्री हुई और वह वधिक ही उसका पति हुआ। पुराने जन्म का द्वेष था, अतः उसने पति को काटकर अपना पूर्व जन्म का वदला चुकाया। उस हिंसा में आपका भी भाग था, आपने दोनों हाथ उठाकर गौ को वताया था, आप न बताते तो संभव है, वह न पा सकता गौ वच जाती। अतः जिन हाथों को उठाकर आपने गौ हत्या में सहायता दी, आपके वे दोनों हाथ कटवा दिये गये। अब आप श्रीजगन्नाथ जी की शरण में जायँ। वे तो अशरणशरण, दीनवन्धु दयासिन्धु हैं। वे चाहें जो कर सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! सिद्ध के मुख से ये बातें सुनकर संतजी जगन्नाथ जी पहुँचे उन्होंने स्तुति की। देखते देखते उनके दोनों हाथ फिर से कमल की भाँति निकल आये। इस कथा के कहने का सारांश इतना ही है कि ऐसे अवसर पर सत्य बोलना भी पाप के समान हुआ।

श्री शुक्राचार्य जी बलि को समझाते हुए कह रहे हैं—"राजन्! गौ की रक्षा होती हो, तो वहाँ असत्य बोलना भी दोष नहीं है।

सातवां स्थान है ब्राह्मणों का हित। यदि कोई ब्राह्मण विपत्ति में हो और असत्य बोल देने से उसकी विपत्ति दूर हो तो वह असत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता। भावना तो परोपकार की है। कई ऐसे भक्त हुए हैं कि चोर जैसे निन्दित कर्म को करके उससे धन लाकर उन्होंने साधु ब्राह्मणों को भोजन कराया है और उनकी अधोगति नहीं हुई है। अतः साधु ब्राह्मणों का भला करने में थोड़ा बहुत असत्य भी बोलना पड़े तो वह असत्य निन्दनीय नहीं है।

अष्टम स्थान है, दूसरों की हिंसा रोकने के समय। कोई फाँसी पर चढ़ रहा है, हमारे झूठ बोल देने से उसके प्राण बचने हैं तो ऐसे अवसर पर झूठ बोल दे, तो कोई दोष नहीं लगता। यह विधि नहीं कि इस समय झूठ बोलना ही चाहिये। यह भी हो सकता है कुछ भी न कहे टाल मटोल कर दे। किन्तु सत्यवादी बनकर दूसरों का अनिष्ट न करावे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! टाल मटोल कैसे करदे। जब कोई हमारे सम्मुख खड़ा होकर पूछ रहा है तो हमें या तो हां करनी होगी या ना। दो में से एक बात तो कहनी ही पड़ेगी ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! जो असत्य बोलना चाहते ही नहीं वे सत्य बोलकर किसी को दुःख भी नहीं देना चाहते। दूसरों को दुःख देने वाला अप्रिय सत्य पाप के सदृश है। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक बड़े धर्मात्मा सत्यवादी मुनि थे। वे कभी भी असत्य भाषण नहीं करते थे। एक बार वे स्नान करके आ रहे थे कि उन्होंने एक घायल मृग को झाड़ी में छिपते हुए देखा। इतने में ही एक बड़ा बलवान् हृष्टपुष्ट क्रूर वधिक हाथ में धनुष वाण लिये ऋषि के सम्मुख उपस्थित हुआ और उनसे पूछा—"ब्रह्मन् आपने यहाँ से जाते हुए मेरा घायल मृग देखा है ?"

मुनि ने सोचा—"यदि मैं इस वधिक को सत्य बात बताता हूँ तो यह अभी उसे मार डालेगा। उसकी हिंसा में मुझे भी सम्मिलित होना होगा यदि मैं कह दूँ कि मैंने नहीं देखा तो मेरा सत्य का व्रत खंडित हो जायगा। यह सोचकर वे चुप ही

रहे, न उन्होंने हाँ कहा न न।" उस वधिक ने बार बार पूछा किन्तु वे मौन ही बने रहे।

अन्त में उसने झुंझलाकर क्रोध के स्वर में कहा—"मुनि वर! मैंने सुन रखा है, आप बड़े धर्मात्मा हैं, हँसी में भी आप कभी असत्य नहीं बोलते। आपने मृग को देखा हो, तो 'हाँ, कर दें न देखा हो तो ना कर दें। मैं चला जाऊंगा आप एक उत्तर दे दें।"

मुनि ने गंभीर होकर कहा—"भैया! क्या उत्तर दें। आँखें जो देखती हैं उनमें तो बोलने बताने की शक्ति नहीं। जो जिह्वा बोलती बताती है उसमें देखने की शक्ति नहीं। अतः मैं तुम्हें क्या बता दूँ। आँखों ने देखा हो और वे उसे कहने में समर्थ हों, तब तो ठीक है। या कहने वाली जिह्वा देख सकती हो, तो भी उसका कहना सत्य है। किसी ने देखा, कोई बतावे तो उस बात का क्या विश्वास—"इसलिए जिसने देखा हो उससे पूछें।"

इस गोलमोल उत्तर को सुनकर वधिक अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह वधिक तो था नहीं। साक्षात् धर्म ही वधिक का रूप रखकर उनकी परीक्षा लेने आये थे। उनको मनोवांछित वर देकर धर्म वहीं अन्तर्धान हो गये। ऐसा वे सत्यवादी मुनि ही उत्तर दे सकते हैं। साधारण लोग ऐसा उत्तर नहीं दे सकते।

शुक्राचार्य महाराज बलि से कह रहे हैं—"राजन्! यह नीतिधर्म संगत बात है कि कामिनियों को प्रसन्न रखने के समय, हँसी खेल में, विवाह कराने के अवसर पर, आजीविका

की रक्षा के लिए, प्राण संकट उपस्थित होने पर, गौ ब्राह्मणों की रक्षा करने के लिए तथा किसी की हिंसा होते समय यदि असत्य भाषण किया जाय, तो वह असत्य निन्दनीय नहीं कहा जा सकता । इस समय आपकी आजीविका का प्रश्न है। यह विष्णु छल से कपट वेष बनाकर तुम्हारा सर्वस्व हरण करना चाहता है, इस समय तुम्हें कुछ असत्य भी भाषण करना पड़े, तो कोई दोष नहीं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब शुक्राचार्य जी ने इतनी युक्तियाँ देकर वेद, शास्त्र, समस्त नीति का उपदेश दिया, तो धर्मात्मा, उदार हृदय वाले महाराज बलि दृढ़ता के साथ इन बातों का उत्तर देने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

होहि स्वार्थ नहिं नाश कामसुखहू बचि जावै।
वाधा काहू भाँति जीविकामहँ नहिं आवै॥
होहि न अपयश जगतमाँहि कुत्सित कामनि तैं।
गृही धर्म है जिही शास्त्र सम्मत बचननि तैं॥
हाथ पाँव कूँ बचानौं, मूँजी कूं टरकावनो।
कछु असत्य कछु सत्यतैं, अपनो काम चलावनो॥



महाराज बलि की सत्य में दृढ़ता।

(५६७)

सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्थं कामं यशोवृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित्॥
स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथंद्विजम्।
प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्लादिः कितवो यथा॥*

(श्री भा० ८ स्क० २० अ० २, ३ श्लोक)

छप्पय

सुनि बलि बोले वीर वचन गुरु तैं सकुचाई।
भगवन्! सुन्दर स्वार्थ सिद्ध हित नीति बताई॥
किन्तु लोभ वश देव? सत्य कूँ कैसे त्यागूँ।
कैसे रिपु ललकारि युद्ध तैं डरिकें भागूँ॥
हाँ कहि "ना" करिवो नहीं, दितिकुल के अनुरूप जिह।
पिता प्रान द्विज हित दये, प्रन नहिँ छाड़्यो पितामह॥

जो कष्टों से डरता है, वही धर्म को छोड़ता है। जिस

---

* गुरु शुक्राचार्य की बातों का उत्तर देते हुए महाराज बलि कह रहे हैं—"भगवन्! आपने जो यह बात कही कि गृहस्थियों का यही धर्म है जिससे धन में, काम में, युद्ध में तथा आजीविका में बाधा न पड़े। इस बात को मैं सत्य मानता हूं, किन्तु मैं प्रह्लाद जी का पौत्र होकर धन के लोभ से ब्राह्मण को कोई वस्तु देकर धूर्त ठगिया की भांति यह कैसे कह सकता हूँ कि अब मैं नहीं दूंगा।

सत्य की सदा विजय होती है, जिसे इस बात पर दृढ़ विश्वास नहीं है वही असत्य का आश्रय लेता है। जीव जब प्राणों का सर्वथा मोह छोड़ देगा, जब अपने सिर को सदा हथेली पर रखेगा तभी यथार्थ धर्म का पालन कर सकेगा। यह नश्वर शरीर तो किसी न किसी दिन नष्ट होगा ही। स्त्री, पुत्र, बन्धु बान्धवों से किसी न किसी दिन वियोग होना अवश्यम्भावा है। अर्थ संसार में किसके साथ गया है। लोगों ने असंख्यों मुद्रायें एकत्रित की हैं, सबको यहीं छोड़कर चले गये हैं। कुबेर भी कल्पान्त में बदल जाते हैं। काम की सामग्रियों के उपभोग से आज तक कौन सर्वथा तृप्त हुआ है। यश भी संसार में किसका स्थाई रहा है, न जाने कितने ब्रह्मा, कितने इन्द्र बदल गये। इस कल्प के इन्द्रों को छोड़कर अन्य असंख्यों कल्पों के इन्द्रों का कौन नाम जानता है। आजीविका की रक्षा मनुष्य स्वतः करना चाहे तो कैसे कर सकता है। एक साग बेचने वाली एक रुपये का साग मोल लाकर बेचती है, उसमें उसे कठिनता से चार आने भी नहीं मिलते, इतने से ही वह अपने परिवार का काम चलाती है। दूसरे सेठ के यहाँ नित्य लाखों रुपयों की आय है फिर भी पेट पेट चिल्लाता रहता है। अधर्म करते समय पेट की दुहाई देता हुआ कहता है अजी, द्यूत न खेलें, सत्य झूँठ न बोले तो पेट कैसे भरे।" यह लोगों का भ्रम है। देने वाले तो सबको श्री हरि हैं। सबकी आजीविका वे ही चलाते हैं। पत्थरों के भीतर जो मेंढ़क रहते हैं, वहाँ भी उन्हें भोजन पहुँचाते हैं।

एक दिन लक्ष्मी जी ने भगवान् से पूछा—"क्या महाराज! आप सबको भोजन पहुंचाते हैं?"

भगवान् ने कहा—"मेरा काम ही है सबकी आजीविका

का प्रबन्ध करना। जिसकी मृत्यु नहीं आई है, वह चाहे जहाँ जा बैठे मैं उसे वहीं भोजन भेजता हूँ। एक चींटी को दिखाते हुए लक्ष्मी जी ने पूछा—"इसकी आयु अभी शेष है न ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, यह अभी बहुत दिन जीवेगी।"

लक्ष्मी जी ने उसे झट एक डिबिया में बन्द कर दिया। देखें भगवान् इसे कैसे भोजन पहुँचाते हैं। डिबिया को अपने पास रख लिया। उसमें वायु तो जा सकती थी, किन्तु कोई और वस्तु नहीं प्रविष्ट हो सकती थी। दो तीन दिन के पश्चात् उन्होंने सोचा—"चींटी तो मर गई होगी।" इसीलिये उन्होंने भगवान् से पूछा—प्रभो ! इस चींटी को आपने भोजन पहुँचाया क्या? भगवान् हँसकर बोले—"हाँ पहुँचा दिया।"

लक्ष्मी जी ने आश्चर्य के साथ कहा—"कैसे पहुँचा दिया महाराज ?"

भगवान् बोले जैसे गर्भ में रहने वाले बच्चे के भोजन को गर्भ में पहुँचा देता हूँ।"

लक्ष्मी जी ने कहा—गर्भ में के बच्चे को तो उसकी माता के भोजन का रस नाल की नाड़ी द्वारा मिल जाता है। यह प्रबन्ध तो आप पहिले से ही कर देते हैं।"

भगवान् ने कहा—"चींटी की भी माता ने पहिले ही उसका प्रबन्ध करा दिया है।"

लक्ष्मी जी ने आश्चर्य के सहित डिबिया खोली तो क्या देखती हैं, चींटी के पास दो चावल रखे हैं वह उन्हें प्रेम से खा रही है। "अब लक्ष्मी जी को पता चला डिबिया बन्द करते समय मेरे मस्तक के कुंकुम मिश्रित अक्षतों में से दो अक्षत

असावधानी से डिबिया में गिर पड़े। उन्हीं को खाकर चींटी जा रही है। नास्तिक इसे संयोग की बात आकस्मिक घटना कहते हैं। आस्तिक इसे भाग्य प्रारब्ध कहते हैं। वास्तविक बात यह है कि भगवान् जीव मात्र की आजीविका का स्वयं ही प्रबन्ध करते हैं। जब यही बात है तो अर्थ, काम, यश तथा आजीविका के निमित्त मनुष्य झूँठ क्यों बोले, अधर्म का आचरण क्यों करे ?"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज बलि के कुलगुरु भगवान् शुक्राचार्यजी ने राजा बलि को ऐश्वर्य रक्षा के निमित्त इस प्रकार गृहस्थी के धर्म बताये। और इस प्रकार आजीविका रक्षा के लिए असत्य बोलने में भी कुछ दोष न बताया, तब उनकी बातों का नम्रता से विरोध करते हुए महाराज बलि कहने लगे।

बलि ने कहा—"भगवन् ! आपके सदृश संसार में नीति विशारद और कौन हो सकता है। आपने जो भी कुछ कहा है, सत्य ही है। गृहस्थियों के लिए वही बर्ताव करना चाहिये जिससे अपने अर्थ की भी रक्षा हो, सांसारिक सुखों में भी व्याघात न हो, यश भी अक्षुण्ण बना रहे, कोई ऐसा निन्दित कार्य न करे जिससे अपयश हो और अपनी आजीविका की भी यथा विधि रक्षा करनी चाहिये। आजीविका से ही जीवन है। फिर भी मैं वामन को तो उसकी इच्छानुसार पृथ्वी दूँगा ही।"

उत्तेजित होकर शुक्राचार्य ने कहा—"क्यों देगा रे ? मैं मना जो कर रहा हूँ। मेरी बात का कोई महत्व ही नहीं।"

नम्रता किन्तु दृढ़ता के स्वर में महाराज बलि बोले

"महर्षे क्यों नहीं गुरुदेव ! मेरा सर्वस्व आपके श्री चरणों में समर्पित है, किन्तु मुझसे यह पाप न होगा। आपकी इस आज्ञा का पालन करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, ।"

शुक्राचार्य ने कहा—"इसमें असमर्थता की क्या बात है, मैं पृथिवी देने से मना तो कर ही नहीं रहा हूँ, केवल इतना संशोधन करना चाहता हूँ, कि इन वामन वटु के पैर से न नापी जाय।"

बलि ने कहा—"भगवन् ! वटुवामन ने बड़ी भूमिका बाँध कर मुझसे यह बात स्वीकार करा ली है कि वे अपने ही पैरों से तीन डग पृथिवी नाप कर लेंगे। मैंने भी इसे स्वीकार कर लिया है कि आपकी इच्छानुसार ही "दूंगा"। अब दूंगा, कहकर न देना, या उसमें कुछ फेर फार करना धूर्तता है, कपट है, असत्याचर है। क्या मैं इन मिट्टी के ठीकरों के लोभ से या अपनी वृत्ति के लोभ से आशा दिलाकर ब्राह्मण को निराश बनाऊँगा। हां कहकर 'न, करूगा। भगवन् ! मैं प्रह्लाद के वंश में उत्पन्न हुआ हूँ, मैं विश्व विजयी ब्राह्मणभक्त महाराज विरोचन का पुत्र हूँ जिन्होंने ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र को जानते हुए भी प्राण दान दे दिये थे। मैंने तो अनजान में तीन पग पृथिवी दी है। ये ब्राह्मण कोई भी क्यों न हो, मैं इनकी इच्छा पूरी करूँगा। अपनी सामर्थ्य रहते इन्हें दान दूंगा। असत्य से बढ़कर और कोई दूसरा पाप है ही नहीं। सब को धारण करने वाली पृथिवी कहती है कि इतने बड़े पर्वत, नद, नदी, वन, उपवन, समुद्र तथा समस्त जीवों के धारण करने में मुझे कोई कष्ट नहीं किन्तु एक असत्यवादी को धारण करना मेरे लिये कठिन हो जाता है, उसके बोझ से मैं दब जाती हूँ।

शुक्राचार्य बोले—"देख, तू तो है मूर्ख। अपने स्वार्थ को समझता नहीं। तैंने तो ब्राह्मण के लिए पृथिवी देने का वचन दिया है, यह ब्राह्मण थोड़ा ही है अजाति है इसकी कोई जाति नहीं। अभी यह छोटा दीखता है, क्षण भर में भूत की तरह बढ़ जायगा। तीनों लोकों में फैल जायगा। एक पैर से समस्त नीचे के लोकों को नाप लेगा, एक में समस्त ऊपर में लोकों को दो में ही यह समस्त दृश्य जगत् को नाप लेगा। फिर यह तेरे सिर पर सवार होगा। तुझे बाँधकर कहेगा तीसरे पैर को स्थान बताओ। तुम और कहाँ बताओगे। प्रतिज्ञा तुम्हारी झूठी हो जायगी। झूठ बोलने वाले जिन नरकों में पचते रहते हैं उनमें तुम सदा पचते रहोगे। सर्वस्व छीनने से तुम दरिद्री हो जाओगे। आज तुम त्रिलोकेश के पद पर प्रतिष्ठित हो, सब तुम्हारा श्रद्धा सहित स्वागत सत्कार करते हैं, जब तुम पदच्युत हो जाओगे, तो कोई पानी के लिए भी न पूछेगा। परिवार वाले तुम्हारा अपमान करेंगे, घर वाले बात न पूछेंगे। सम्भव है यह तुम्हें देवताओं का शत्रु समझकर मार डालें।"

इसपर बलि बोले—"ब्राह्मण! यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके नरक में भी जाऊँ तो मुझे नरक जाना सहर्ष स्वीकार है। यह स्वर्ग भी तो एक प्रकार का नरक ही है। ब्राह्मण की वञ्चना न करके यदि मुझे पदच्युत भी होना हो, तो वह मुझे सहर्ष स्वीकार है। दरिद्रता में क्या दुःख है? ब्राह्मण संतुष्ट हो जाय, उससे मुझे हाँ कहकर "ना, न करनी पड़े तो मैं उस दरिद्रता का प्रसन्नता पूर्वक अभिनन्दन करता हूँ। अपने धर्म की रक्षा करते हुए सत्य का पालन करते हुए मेरी मृत्यु हो जाय, तो इससे उत्तम बात और कौन होगी। जीवन में दान करना, पर लोक सम्बन्धी पुण्य कार्य करना, यही तो जीव का मुख्य ध्येय है।

ये धन, जन, स्त्री, पुत्र वाहन आदि समस्त संसारिक सुखकर सामग्रियाँ मरने पर हमें अवश्य ही एक दिन छोड़ देंगी। जब इनका वियोग अवश्यम्भावी ही है, तो इसके लिए चिन्ता करने की कौन सी बात है। मरते समय जब इन्हें विवश होकर छोड़ना ही पड़ेगा, तो हम स्वतः प्रेम पूर्वक अपने आप ही इनमें से ममत्व क्यों न छोड़ दें। ब्राह्मण भगवान् के स्वरूप हैं, ज्ञान को धारण करने वाले हैं, यदि इस नश्वर धन से एक भी ब्राह्मण की तुष्टि हो जाय, तो इससे बढ़कर इस धन का दूसरा सदुपयोग हो ही क्या सकता है।

शुक्राचार्य ने कहा—"भाई, मैं मना कब करता हूं। मेरा कहना इतना ही है, कि तुम इनके पैरों से मत नापो। स्वेच्छा से चाहे सातों द्वीपों को संकल्प कर दो।"

बलि बोले—"महाराज! देने का अभिप्राय क्या? यही न कि लेने वाले की सन्तुष्टि हो जाय। कोई पानी के बिना प्यासा मर रहा है। आप से जल मांगता है, उसे आप बहु-मूल्य सुगन्धित तैल दे दें तो उसको वह क्या करेगा? ब्राह्मण की जिससे तृप्ति हो जाय। वही यथार्थ दान है। जिस लिये दिये दान से विप्र सन्तुष्टि नहीं हुआ तो ऐसे दान से कुछ भी लाभ नहीं। वह तो व्यर्थ है।"

शुक्राचार्य ने कहा—"अरे, भाई! अपनी वृत्ति को बचाकर दान देना चाहिये।"

बलि ने आवेश के साथ कहा—"महाराज! आप वृत्ति वृत्ति कह रहे हैं वृत्ति के दाता तो श्री हरि हैं। सत्य के सामने वृत्ति का क्या महत्व? देखिये, दधीचि मुनि ने देवताओं के मांगने पर स्वेच्छा से अपना शरीर द दिया था। महाराज शिवि ने

एक पक्षी की रक्षा के लिये अपना मांस स्वतः काट काट कर दे दिया था। जब ये धर्मात्मा सत्य के लिये प्राण त्यागने में भी नहीं हिचके परोपकार के लिये इन साधुजनों ते अपने दुस्त्यज प्राणों को भी निछावर कर दिया, तो फिर पृथिवी आदि देने के विषय में तो सोचना ही क्या है।

शुक्राचार्य ने कहा—"यदि तुम इन्हें अपना सर्वस्व ही दे दोगे, तो तुम्हारे पास शेष ही क्या रहेगा ?

वलपूर्वक बलि ने कहा—"महाराज ! मेरे पास यश शेष रहेगा, जिसका प्रलय पर्यन्त भी नाश नहीं होता। मेरे प्रपिता-महों ने तथा अन्य बली राजाओं ने अपने बाहुवल से जिन जिन भूखण्डों को, जिन लोंकों को, जीता था उन्हें तो काल ने ग्रस लिया, किन्तु उनकी कीर्ति अब तक ज्यों की त्यों अक्षुण्ण बनी हुई हैं। अतः भगवन् ! मैं इस तुच्छ पृथिवी के पीछे अपनी फैली हुई कीर्ति में धक्का न लगाऊँगा। अपयश न कमाऊँगा।

शुक्राचार्य ने कहा—"यश कमाने के और भी साधन हैं। यह क्या कि अपनी गाढ़ी कमाई के धन को व्यर्थ में किसी को उठाकर आवश्यकता से अधिक दे दें।"

बलि ने कहा—"हाँ महाराज। यश कमाने के अन्य साधन हैं, युद्ध में पीठ न दिखाना, शुत्रु, से सम्मुख युद्ध करना, ग्रन्थ लिखना, भाषण देना, कलाओं का प्रदर्शन करना। ये सब यशो-पालन के साधन अवश्य हैं, किन्तु, सत्पात्र के उपस्थित होने पर अपने प्राणों से प्यारे, गाढ़ी कमाई वाले धन को श्रद्धा-

पूर्वक दान करने वाले संसार में दुर्लभ मनुष्य हैं। सत्पात्र को दान देने से बढ़कर कोई पुण्य कार्य नहीं। अतः मैं इस वामन वटु को इसकी इच्छा के अनुसार ही जितनी यह भूमि माँगेगा उतनी अवश्य दूँगा।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज वलि किसी प्रकार भी न माने तो शुक्राचार्य जी ने फिर अन्तिम प्रयत्न किया।

छप्पय

शिवि दधीचि नै तजे प्रान दुस्त्यज हू परहित।
भूमि आदि अति तुच्छ भोग जग के जे परमित ॥
नाशवान् धन, धरा, विश्व के सबहिं पदारथ।
अविनाशी यश एक यही जग जीवन स्वारथ ॥
सहज शत्रु सँग शूरता सहित, समर महं मरन है।
किन्तु पात्र कूँ प्रेम युत द्रव्य दैंन अति कठिन है ॥



महामना बलि की उदारता।

(५६८)

यजन्ति यज्ञक्रतुभिर्यमादृता,
भवन्त आम्नायविधानकोविदाः।
स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो
दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने।*

(श्री भा० ८ स्क० २० अ० ११ श्लोक)

छप्पय

यदि ये हैं भगवान् विष्णु सब जग के पालक।
वेष बदलि विश्वेश बने वटु बौने बालक॥
तो चिन्ता की कौन बात ये मख के स्वामी।
जे जो चाहैं करैं अखिल पति अन्तर्यामी॥
सब साधन को यही फल, होहि कृष्ण पद सुदृढ़ मति।
यह मेरो सौभाग्य अति, याचन आये विश्वपति॥

परोपकार के कारण प्राप्त हुआ कष्ट, युद्ध क्षेत्र में सम्मुख लड़ते हुए शत्रु के शस्त्र द्वारा हुआ घाव, सुरति के कारण हुई

---

* महाराज बलि शुक्राचार्य से कह रहे हैं—"मुनिवर! वे ये ही वरद विष्णु हैं, जिनके निमित्त की विधि को जानने वाले आप जैसे ज्ञानी पुरुष यज्ञों में आदर पूर्वक हवन करते हैं। अथवा चाहें कोई दूसरे ही हों, मैं इन्हें अवश्य ही इनकी मांगी हुई पृथिवी इच्छानुसार दूँगा।

शिथिलता, प्रेम और हर्ष के कारण आये हुए अश्रु, ससुराल में दो हुई गालियाँ, पुत्र प्रसव जन्य पीड़ा तथा दान के कारण हुई निर्धनता, यद्यपि ये सब अन्य के देखने में दुख से प्रतीत होने पर भी वास्तव में सुख देने वाले हैं। वैसे किसी को कारावास हो जाय तो सब उनकी निन्दा करेंगे स्वयं भी उसे ग्लानि होगी। दुखी होगा, किन्तु देश सेवा के निमित्त परोपकार करते हुए कारावास के या अन्य कष्ट सहन करने पड़ें तो हृदय में बड़ा संतोष रहता है, संसार में भी उसका गौरव होता है तथा उन कष्टों से एक प्रकार की आत्मतुष्टि होती है वैसे कहीं एक कांटा भी लग जाय तो कितना कष्ट होता है। किन्तु युद्ध क्षेत्र में अंग क्षत विक्षत हो जाते हैं, सम्पूर्ण शरीर चलनी की भाँति हो जाता है, किन्तु उन प्रहारों को गौरव के साथ सहते हैं, उनसे सच्चे शूरवीरों को कुछ भी कष्ट नहीं होता यही नहीं, उनके रक्त को देखकर और भी बल उत्साह बढ़ता है। इसी प्रकार दरिद्रता यद्यपि सबसे दुखकर मानी गई है। दरिद्री को पग पर असुविधाओं का सामना करना पड़ता है सभी उसका तिरस्कार करते हैं उसे भी अपना जीवन भार सा प्रतीत होता है किन्तु जो दान देते देते दरिद्री हुए हैं उन्हें एक प्रकार का आत्म सन्तोष रहता है, कि हमने धन का दुरुपयोग नहीं किया, उसे बुरे कार्यों में व्यय नहीं किया। उस दरिद्रता में गौरव है। धीर, वीर, दानी स्वात्माभिमानी, पुरुष उस दरिद्रता का सहर्ष स्वागत करते हैं और उसे पाकर अपने को गौरवान्वित समझते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब शुक्राचार्य जी ने बार बार कहा कि यह वटु वामन नहीं यह विश्वपति विष्णु

हैं, तेरा सर्वस्व अपहरण करके तुझे दरिद्र बना देगा। तो इस पर मनस्वी महाराज बलि कहने लगे—"गुरुवर! कोई भी दाता देता है तो वह स्वेच्छा से नहीं देता। उसे देने के लिए विवश होना पड़ता है। किसी दुखी दरिद्र को देखकर हमारे मन में करुणा उत्पन्न होती है। बिना दिये चित्त की विचित्र दशा होती है, हृदय में एक प्रबल असन्तोष सा होता है, जब हम उसे कुछ दे देते हैं और उसके मुख पर प्रसन्नता देखते हैं, तो हमें एक प्रकार के आन्तरिक सुख का अनुभव होता है, मन में सन्तोष होता है। अतः यथार्थ दानी पुरुष दूसरों के लिये दान नहीं देते। अपने सन्तोष के लिये देते हैं। वे समझते हैं देने वाले हम कौन हैं, भगवान् ही सबको देते हैं, हम तो निमित्त मात्र हैं। उस प्रभु के सम्मुख तो हम भी भिखारी हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! दाता को यदि देने में ही सुख होता है तो वह बहुत से लोग किसी को देते हैं, किसी को मना कर देते हैं, हमने तो देखा है बहुत से लोग अधिक मांगने पर या असमय में माँगने पर भिक्षुकों को डाँटते भी हैं, यह क्या बात है।"

सूतजी बोले—महाराज वे! यथार्थदाता नहीं। वे तो अभिमानी हैं, उनके मन में यह भावना रहती है, लाओ हम पर धन है तो थोड़ा इन अपने आश्रित कंगालों को भी दे दें। हमारा नाम होगा, दस स्थान पर कहेंगे हम उनकी सहायता करते हैं उसे देते हैं, उसका दुख दूर करते हैं। यह दान नहीं अपने धन का विज्ञापन है। तामस दान है। इसे असत् दान कहते हैं उसका इस लोक में तथा परलोक में कोई शेष फल नहीं। दान तो वही यथार्थ है कि दाता को यह अभिमान न हो कि मैं किसी को दे रहा हूँ, किसी की सहायता कर रहा

हूँ। उसकी यही भावना रहे यह सब भगवान् की वस्तु है। भगवान् ही मुझ से एक रूप में दिला रहे हैं और वे ही अनेक रूप रखकर, हाथ पसारकर ले रहे हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक बहुत बड़े दानी सेठ थे। उनके घर के नौ द्वार थे, एक दशवां भी द्वार था। सब द्वारों पर बहुत से भिक्षुक बैठे रहते वे क्रमशः सब द्वारों पर जाते और वहां जाकर सब को अन्न दान देते। उनका बड़ा नाम हो गया। स्वर्ग तक उनकी कीर्ति व्याप्त हो गई: एक बार भगवान् वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाकर उनके दान की परीक्षा करने आये। भिक्षुकों में बहुत से बड़े वाचाल और ढीठ होते हैं, वे बहुत बोलते हैं दाता की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं, अन्य भिक्षुकों को डांट डपट कर सबसे आगे हो जाते हैं। ऐसे ही ये वृद्ध ब्राह्मण थे। भिक्षुकों में बैठकर चिल्लाने लगे—"आप बड़े दानी हैं, कुवेर से भी बढ़कर हैं, आप कर्ण के समान हैं हरिश्चन्द्र की भाँति हैं।" सेठजी पहिले द्वार पर बाँटने आये। ये ब्राह्मण सबसे पहिले पहुँच गये। सिर नीचा करके सेठ ने उन्हें दान दिया। जब इस द्वार के सब लोगों को देकर सेठजी दूसरे द्वार के भिक्षुकों को देने गये, तब उनमें भी ये ब्राह्मण सबसे पहिले पहुँच गये। ऐसे ही नौ दरवाजों पर ये पहुँचे और सेठजी सिर नीचा करके देते ही रहे। उन्होंने न तो इनकी ओर देखा और न यही कहा कि तुम बड़े लालची हो, नौ दरवाजों पर लेते रहे हो। दशवां द्वार कभी कभी खुलता था। उस पर कभी कोई भिक्षुक जाता ही नहीं था। आज दशवां द्वार भी खुला। वह विचित्र भिक्षुक वहाँ भी खड़ा था। सेठ जी ने सिर नीचा करके वहां भी दान दिया। तब वे अद्भुत भिक्षुक बोले—"सेठजी हम आपसे एक बात पूछना चाहते हैं।"

नीचा सिर किये ही किये सेठ जी ने हाथ जोड़कर कहा—"हां, भगवन् ! पूछें।" तब वे वृद्ध भिक्षुक ब्राह्मण बोले—

दशों दुआरे फिरि गयो, कहे न कड़वे बैन।
हौं तोइ पूछौं हे सखे ! कैसे नीचे नैन॥

सेठ जी, मैं दशों द्वार पर गया, चिल्ला चिल्लाकर भिक्षा मांगी। आप समझ भी गये होंगे। यह ही भिक्षुक है, किन्तु आपने न तो मुझे डाँटा फटकारा न दान देने से मना ही किया। अस्तु, यह तो आप की उदारता और दानशीलता का चिह्न है, किन्तु आप सिर को ऊपर क्यों नहीं उठाते। नीचे नयन करके दान क्यों देते हैं ?"

तब आँखों में आँसू भर कर सेठ जी ने कहा—भगवन् !—

देने वाला और है, देता है दिन रैन।
लोग भरम मेरो करैं, जाते नीचे नैन॥

प्रभो ! जो मनुष्य एक एक जल कण के लिये, वायु के लिये परमुखापेक्षी है, वह दूसरों को दान दे ही क्या सकेगा। जो अपने कष्ट मिटाने में समर्थ नहीं वह दूसरों के दुख दूर कर ही क्या सकता है। सबको देने दिलाने वाले वे ही हरि हैं। वे ही सदा सर्वदा सब को देते हैं। वे ही सबका पालन करते हैं। ये सब लोग भ्रमवश मुझे दाता मानकर मेरे मुख पर ही कहते हैं—"सेठ जी बड़े दानी हैं, बहुत दान करते हैं, सब के दुख दूर करते हैं।" भगवन् ? इन झूँठी बातों को सुन सुन कर लज्जा के कारण मैं सिर ऊपर नहीं उठाता। मुझे तो भगवान् ने मुनीम का काम सौंप रखा है। दाता तो वे ही दीन बन्धु हैं मुझ से तो वे दिला रहे हैं।"

इतना सुनते ही भगवान् अपना बनावटी वेष त्यागकर

चतुर्भुज रूप में प्रगट हो गये और उन्हें अपने देव दुर्लभ दर्शन देकर कृतार्थ किया।"

सूत जी कहते—"मुनियों ! यथार्थ दानी ऐसे ही होते हैं भिक्षुकों पर जो अपने दान का, उदारता का, जो भार लादते हैं और बार बार अपने सम्पन्न होने की दुहाई देकर दूसरों को देय या तुच्छ समझते हैं वे दानी नहीं। महामना महाराज बलि यथार्थ में सच्चे दानी थे तभी तो वे गुरु के मना करने पर भी दान देने को प्रस्तुत हो गये। उन्होंने गुरु से कहा—"देखिये भगवन् ! साधारण याचकों को याचना पूर्ण करने से प्राप्त हुई दुर्गति भी कल्याणकारिणी होती है। फिर आप जैसे ब्रह्म-वेत्तादि याचक बनकर जिसके पास आवें और वह उन्हें सर्व-स्वदान करके भिक्षुक बन जाय तो, उससे बढ़कर बड़भागी विश्व में कौन होगा ? इसलिये भगवन् ! चाहे हमें गुरु आज्ञा उल्लंघन का पाप ही क्यों न लगे मैं इस वटु वामन को इसकी इच्छित वस्तु अवश्य दूँगा, संकल्प पूर्वक दूँगा, हठ से दूंगा, मैं मानने का नहीं। बिना दिये मुझे सुख नहीं, शांति नहीं याचकों की याचना पर मैं वस्तु के रहते हुए मना नहीं कर सकता। यह मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। देकर यदि मुझे नरक जाना पड़े तो सहर्ष स्वीकार है।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—सूतजी ! दान पुण्य तो लोग अपने सुख के लिये करते हैं। इस कार्य से हमें सुख हो स्वर्ग प्राप्त हो दान का फल तो यही है। महाराज बलि दान देकर भी सहर्ष नरक की यातना सहने को क्यों तैयार हुये ?

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन् ? स्वर्ग की कामना से सकाम दान पुण्य करना यह शास्त्रकारों ने उत्तम मार्ग नहीं

बताया है। इसे तो कैतव धर्म कहा है। कर्म तो निष्काम करना ही श्रेष्ठ है जैसे शराबी सुरा बिना पिये व्याकुल बना रहता है, जब तक उसे सुरा नहीं मिलती तब तक बेचैन बना रहता है, इसी प्रकार स्वाभाविक दानियों और धर्मात्माओं की बात है। वे किसी सांसारिक कामना से दान धर्म नहीं करते। उनकी प्रकृति ही ऐसी हो जाती है कि बिना दान धर्म किये, बिना सत्य बोले वे रह ही नहीं सकते। इस विषय में एक अति प्राचीन पौराणिक उपाख्यान मैं सुनाता हूँ उसे आप ध्यान पूर्वक सुनें।

प्राचीनकाल में महाराज उशीनर के पुत्र परम धार्मिक राजर्षि शिवि हो चुके हैं। शिवि के समान दानी धर्मात्मा और सत्य प्रतिज्ञ विरले ही पुरुष हुए होंगे। उनकी क्षमा संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसका अनुकरण करना तो दूर की बात रही उनके कर्मों पर लोगों को विश्वास होना भी कठिन है। क्षमा में वे पृथिवी से भी बढ़ गये। मुनियों ? एक दिन की बात है कि महाराज शिवि के पास एक ब्राह्मण ने आकर भोजन की याचना की। वह ब्राह्मण अघोरी का वेष बनाये हुए था।

राजा तो परमदानी थे। कल्पवृक्ष के समान सभी की इच्छा पूर्ण करने वाले थे। भूखे को भोजन देना तो परमधर्म है। अतः शीघ्रता पूर्वक बोले—"भगवन् ? आज्ञा कीजिये मैं आपके लिये कैसे भोजन लाऊँ ?"

उस अघोरी विप्र ने कहा—"राजन् ? मैं तो नरमांस खाता हूँ, सो भी वधशाला में वध हुए पुरुष का नहीं। कुलीन पुरुष का मांस मुझे प्रिय है। यदि आप अपने इकलौते पुत्र बृहद्गर्भ का स्वयं ही मांस बनाकर मुझे खिलावें तो उसी से मेरी तृप्ति हो सकती है।"

राजा ने अत्यंत ही उल्लास के साथ कहा—"ब्रह्मन्! मेरा और मेरे पुत्र बृहद्गर्भ का यह परम सौभाग्य है कि उसका शरीर परोपकार के काम में आवे। आप विराजिये, मैं आप की इच्छा पूर्ण करूँगा।" यह कहकर राजा ने कुमार को बुलाया उसे स्वयं मारकर उसके मांस को रांधने लगे। वह अघोरी ब्राह्मण बाहर बैठा बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। राजा को भोजन लाने में बिलम्ब देखकर वह अत्यंत ही कुपित हुआ। उसने नगर में जाकर राजा के महलों में आग लगा दी। उनके निवास स्थान को जला दिया और अत्यंत उपद्रव करने लगा।

महाराज शिवि अपने प्यारे पुत्र का मांस बनाकर उसे सिर पर रखकर उस ब्राह्मण के लिये लाये। सभी सेवको ने रोते रोते कहा—"महाराज ! यह कहाँ से ऐसा ब्राह्मण आगया, आपको भोजन लाने में विलम्ब देखकर वह तो आपके महलों में आग लगा रहा है।" इतना सुनकर भी राजा के मुखपर कोई रोष या दुःख के चिन्ह दिखाई न दिये। वे सीधे उस कुपित ब्राह्मण के समीप गये और बोले—"भगवन् ! भोजन तैयार है, मुझे देर हो गई, आपको कष्ट हुआ, इसके लिए मैं बारम्बार क्षमा प्रार्थना करता हूँ,। आप प्रसन्न होकर अपनी इच्छानुसार भोजन कीजिये।"

राजा की ऐसी नम्रता देखकर ब्राह्मण के ऊपर तो मानों १०० घड़ा पानी पड़ गया हो, लज्जा के कारण उसका सिर नीचा हो गया। फिर भी उसने राजा की क्षमा की परीक्षा लेने के निमित्त कहा—"तू ही इस मांस को खाले।"

यह सुनकर महाराज तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे वस्त्र को हटाकर ज्योंही पुत्र का मांस खाने को उद्यत हुए

त्योंही ब्राह्मण ने उनका हाथ पकड़ लिया। राजा के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जिस राजकुमार को उन्होने मारा था, वह वस्त्रालंकारों से सुसज्जित राजा की ओर हँसता हुआ दौड़ा आ रहा था। राजा के समीप आकर वह उनसे लिपट गया। ब्राह्मण ने अपना छद्मवेष त्याग दिया। वे ब्राह्मण और कोई नहीं थे लोक पितामह ब्रह्माजी ही राजा की क्षमा की परीक्षा लेने आये थे क्षण भर में वे वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा अपने पुत्र के सहित सभा में आये। सभी सभासद महाराज की ऐसी क्षमा, सहनशीलता से परम विस्मित थे।

सभासदों ने राजा से पूछा—"प्रभो! आपने तो यह अत्यंत ही दुष्कर कर्म कर डाला। हम यह जानना, चाहते हैं कि आपने यह कार्य किस कामना से किया था? क्या यश प्राप्ति की इच्छा से किया था?"

यह सुन राजा ने कहा—"भाइयो! देखो, मैं दान, यश, ऐश्वर्य अथवा अन्य किसी वस्तु की प्राप्ति की कामना से नहीं देता। सत्पुरुष सदा दान देते रहे हैं और दान की प्रशंसा करते रहे हैं, यह दान की प्रथा पुण्यात्मा पुरुषों की चलाई है, सज्जन पुरुषों को उसका अनुकरण करना चाहिये। इसी भावना से मैं सदा देता रहता हूँ। जिस मार्ग पर सदा से सत्पुरुष चलते आये हैं वही श्रेष्ठ मार्ग है, अतः उसी मार्ग का मैं निष्काम भाव से अनुसरण करता हूँ। दान देना चाहिये इसीलिये मैं देता हूँ। बिना दिये मुझसे रहा नहीं जाता।" यह सुनकर सभी सभासद परम विस्मित हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसे पुरुष ही यथार्थ दानी हैं। महाराज बलि उन्हीं श्रेष्ठ दानियों में से हैं। भगवान् ने

उनके गुणों की ख्याति करने के निमित्त ही वामन वेष बनाया था ।

जब शुक्राचार्य ने स्पष्ट शब्दों में बलि से कहा कि मैं मानूँगा नहीं इस वामन को पृथिवी अवश्य दूँगा। तब शुक्राचार्य कुपित हो गये। और क्रोध करके बोले—"तेरी बुद्धि तो भ्रष्ट होगई है। अपने को पंडित मानता है। मेरी बात पर विश्वास नहीं करता। जो गुरु वचनों पर अविश्वास करता है, उसका अधः पतन अनिवार्य है। मैं बार बार कह रहा हूँ यह ब्राह्मण नहीं साक्षात् विष्णु है।"

बलि ने नम्रता पूर्वक कहा—"मैं विश्वास करता हूँ भगवान् ! मानता हूँ ये विष्णु ही हैं, वेष बदल कर आये हैं, मुझे ठगना चाहते हैं। मुझे क्या ठगेंगे स्वयं ही ठग जायँगे। आप लोग जो वेदवादो ब्राह्मण हैं, समस्त यज्ञ योग इन्हीं के उद्देश्य से करते हैं। समस्त यज्ञों के द्वारा इन्हीं का पूजन करते हैं, इन्हें ही बलि देते हैं। मेरे तो दोनों हाथो में लड्डू हैं, यदि ये सुपात्र ब्राह्मण होंगे तो मुझे दान का पुण्य होगा यदि ये विष्णु हैं तो मेरा सर्वस्व विष्णु अर्पण हो जायगा। अपनी खिचड़ी की थाल में भूल से घी गिर पड़े तो उसे नष्ट हुआ कोई नहीं मानता। आप कहते हैं—"ये तुझे बाँध लेंगे—"बाँध लेंगे तो बांध लें। वेष तो इन्होंने ब्राह्मण का बना रखा है। ब्राह्मण को सदा अवध्य बताया है, इसलिये ये बाँधेगे भी तो मैं इन्हें मारूँगा नही ये अपना धर्म नहीं छोड़ेंगे। ये छोड़ भी दें तो मैं नहीं छोड़ूंगा। यदि ये अपना द्विज वेष छोड़कर देवरूप से मुझसे युद्ध करें, तो मैं भी दो दो हाथ दिखाऊंगा, या तो स्वयं मर जाऊंगा या इन्हें यमपुर पठाऊंगा

मान लो ये सर्वसमर्थ हैं, मैं इन्हें न भी दूं तो ये युद्ध में मुझे जीत कर तीनों लोकों को ले सकते हैं। यदि मैं इनकी इच्छा की पूर्ति न कर सका और इन्होंने मुझे मार डाला तो भी मैं बोलूंगा नहीं। यदि ये विष्णु न होकर कोई और होंगे और मुझसे युद्ध करेंगे, तो अपने क्रिये का फल चाखेंगे। सारांश यह कि मैं जो कह चुका हूँ उससे अब पीछे न हटूंगा इन्हें इनके पैरों से तीन पग पृथिवी दूँगा।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर महाराज वलि चुप हो गये।

छप्पय

विप्र वेष तैं दड दैंहिं वा मोकू मारैं।
अथवा धन गृह राज्य छीनिके देश निकारैं॥
दीयो जो कुछ दान करौं नहिं फिर हौं नाहीं।
धन तिन आवत जात रहैं कीरति जग माहीं।
चाहैं वामन विप्र हों, शत्रु होहि अथवा सुहृद।
देहुँ तीनि डग भूमि अब, पग लघु हौं अथवा वृहद्॥



महाराज बलि को शुक्राचार्य का शाप।

दृढं पंडितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया।
मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद्भ्रश्यसे श्रियः॥

(श्री भा० ८ स्क० २० अ० १५ श्लोक)

छप्पय

लखि बलि की हठ शुक्र क्रोध करि बोले बानी।
अरे मन्दमति मूर्ख अज्ञ शठ पंडितमानी॥
साधारण द्विज भिक्ष मोइ निज आश्रित जानैं।
करैं उपेक्षा अधम बात मेरी नहिं मानै॥
जा तेरो ऐश्वर्य धन, छिन मह सब नसि जाइगो।
गुरु आज्ञा अवहेलना, को फल अब तू पाइगो॥

धर्म का पथ बड़ा कंटकाकीर्ण है। जो जितना ही शुद्ध होता है, उसकी उतनी ही परिक्षा की जाती है, सुवर्ण बार-

---

❀ श्री शुक्राचार्य राजा बलि को शाप देते हुए कहते हैं—"अरे, तू अज्ञ और मूढ़ होकर भी अपने को पंडित मानता है। तूने मेरी उपेक्षा करके मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है अतः जा तू शीघ्र ही ऐश्वर्य भ्रष्ट हो जा।

बार तपाया जाता है। तपाने से उसकी हानि नहीं होती, वह और भी उज्ज्वल चमकने लगता है। श्रेय कार्यों में बहुत से विघ्न आया करते हैं, किन्तु धैर्यवान् पुरुष उन्हें धैर्य के साथ सहन करते हैं। जो आपत्तियों को आते देखकर घबरा जाते हैं वे धीर नहीं, वीर नहीं, दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं। विघ्नों के चाहे पहाड़ टूट पड़ें, अपने पुरुष पराये बन जायँ, मित्र शत्रु हो जाँय, किन्तु धीर पुरुष पीछे पग नहीं हटाते, अपनी सत्य प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होते। देखने में वे निर्धन बन जाते-हैं किन्तु वास्तव में उनका धन नश्वर न रहकर अविनाशी बन जाता है। वे अमरत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! संसार में भावी बड़ी प्रबल है, भवितव्यता होकर ही रहती है। मनुष्य करता किसी उद्देश्य से है फल उसका विपरीत ही हो जाता है। महाराज नृग दान करते थे स्वर्ग के लिये किन्तु होना पड़ा गिर गिट। इसी प्रकार बलि की सेवा सुश्रूषा से प्रसन्न होकर असुराचार्य भगवान् भार्गव उन्हें स्थाई इन्द्र बनाना चाहते थे किन्तु भावी के कारण वे स्वयं ही उसे क्रोध करके शाप देने को उद्यत हुए।

भगवान् ने देवताओं से पहले ही कह दिया था, बलि को पदच्युत करने का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। उसने अपनी सेवा से शुक्राचार्य को वश में कर रखा है। वे ही जब क्रोध करके उसे शाप दे दें, तब तो वह श्री हीन हो सकता है। अन्यथा किसी की शक्ति नहीं कि उसका सामना कर सके। अब वही समय आ गया। हर प्रकार से समझाकर, बुझाकर, डाँटकर, फटकारकर, प्यार से क्रोध से जब शुक्रचार्य समझा

चुके और बलि अपनी प्रतिज्ञा पर ही दृढ़ बना रहा, तो भवितव्यतावश शुक्राचार्य को क्रोध आगया। क्रोध में भरकर वे सत्य में परायण महामनस्वी महाराज बलि को शाप देते हुए बोले— "अरे, तू बड़ा मूर्ख है बे! लगाता तो तू अपने को बड़ा भारी पंडित है, किन्तु बुद्धि तुझ में तनिक भी नहीं। अपने स्वार्थ को तो समझता नहीं, उलटे मुझे ही असत्यवादी समझता है मेरी अवहेलना करता है, मेरी आज्ञा नहीं मानता। जा तू अत्यंत ही शीघ्र ऐश्वर्य से भ्रष्ट होगा।"

महाराज बलि के लिये यह सबसे बड़ी विपत्ति थी। उन्हें जो कुछ प्राप्त था, गुरु कृपा से ही प्राप्त था, उनको ही प्रसन्न करके वे स्थाई इन्द्र होना चाहते थे, वे ही आज उसके दुर्भाग्य से उसे ऐश्वर्य से भ्रष्ट होने का शाप दे रहे है, यह काल की क्रूरगति का ही प्रत्यक्ष उदाहरण है, किन्तु वे तो महापनस्वी थे, सत्य में उनकी अडिग आस्था थी। गुरु के शाप को सुनकर भी वे अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं हुए। उन्होंने वामन को भूमि देने का अपना आग्रह नहीं छोड़ा।

महाराज बलि की सती साध्वी, पतिव्रता पन्ती विन्ध्यावली ने जब सुना मेरे पति एक सुपात्र को दान देना चाहते हैं, गुरुजी इस कार्य में रोड़ा अटका रहे हैं तब तो वह लजाती हुई तनिक घूँघट को सरकाकर राजा के समीप आई। भरी सभा में वह बोल तो सकती ही नहीं थी। अतः वह सुवर्ण की शुद्ध भारी में पवित्र जल लेकर उपस्थित हुई। उसने अत्यन्त ही कोमल वचनों में अपने पति से कहा—"देव! इन वटुवामन के पंकज पंखुड़ियों के सदृश पुनीत पादों को प्रक्षालन करके अपनी पृथिवी दान की पुण्य प्रतिज्ञा को पूर्ण कीजिये। ब्रह्मचारी को उसकी इच्छानुसार भूमि दान दीजिये।

आज इस संकट के समय अपनी प्राण प्रिया पत्नी को साथ देखकर बलि के हर्ष का ठिकना नहीं रहा। जो विपत्ति में अपने साथ रहे वही वन्धु है, वही स्वजन और आत्मीय है। प्राय: परिवारवाले तभी तक साथ देते हैं, जब तक ऐश्वर्य हो। ऐश्वर्यहीन होने पर सभी परित्याग कर देते हैं। मुझे मेरे गुरुदेव ने त्याग दिया, अन्य बन्धु बान्धव विमुख से हो गये, किन्तु मे॰ी जीवन संगिनी मेरे साथ है। अतः बड़े हर्ष से उल्लासके साथ उन्होंने अति प्रसन्नता पूर्वक स्वयं ही उन वामन वटु के श्रीसम्पन्नचरणयुगल धोकर, वह त्रैलोक्य पावन चरणोदक अपने मस्तक पर धारण किया। मानों उन्होंने अपनी कीर्तिरूप सुरसरि की श्रीहरिके चरणों से निकाल लिया हो। पुनः दान देने के पूर्व ब्राह्मण का विधि विधान पूर्वक पूजन किया। वस्त्राभूषणों से उन्हें अलंकृत किया। तत्पश्चात् वे टौंटीदार पात्र से जल लेकर वामन वटु को दान देने के लिये संकल्प पढ़ने को प्रस्तुत हुए। शुक्राचार्य जीने देखा अब तो बात बिगड़ना ही चाहती है, लाओ, एक बार प्रयत्न और करें। यह सोचकर वे उस टोंटीदार पात्र में छोटा रूप रखकर बैठ गये। उन्होंने सोचा—"जब तक जल न होगा, संकल्प न पढ़ा जायगा, संकल्प के बिना दिया हुआ दान नियमानुसार नहीं माना जाता। जब विधि की त्रुटि होगी, तो हम कहेंगे—"यह दान नियम के विरुद्ध हुआ अतः मान्य नहीं।" यही सब सोचकर उन्होंने एक बूँद भी पानी टोंटी में से नहीं गिरने दिया।

राजा बलि ने सोचा—"यह तो एक नई विपत्ति आगई। वे वामन से बोले—"द्विजवर! इस टोंटीदार पात्र से जल क्यों नहीं गिरता।"

वामन तो सब जानते थे, सर्वज्ञ से क्यो छिपा रह सकता है। अतः बोले—"राजन् ! लाओ, मैं भी देखूँ, टौंटी में क्या हो गया । अपने हाथ की कुशा को तो मुझे दे दें । राजा ने कुशा वामन को दे दी । उन्होंने उसकी नोंक को उस टौंटी मे इतने वेग से घुसेड़ दिया कि असुर पुरोहित की एक आँख ही गोविन्दाय नमोनमः हो गई । बिना संकल्प के ही एक आँख दान में दे दी। बिना प्रतिज्ञा कराये ही वामन ने एक आँख ले ली। अब तो शुक्र वहाँ से भागे। जल गिरने लगा बलि संकल्प पढ़ने लगे— 'आज ब्रह्मा के इस परार्ध में, इस कल्प में, इस मन्वन्तर में, इस द्वीप में, इस पुण्यक्षेत्र, इस युग में, इस सम्वत्सर में, इस मास में, इस पक्ष में, इस तिथि में, इस वार में, इस मूहूर्त में, करण, नक्षत्र, आदि मैं कश्यप कुल में उत्पन्न बलि इस कश्यप कुल में उत्पन्न वामन की तीन डग पृथिवी देता हूँ । इस दान से सर्वान्तिर्यामिः प्रभु प्रसन्न हों, यह दान उन प्रभु का ही है, मेरा नहीं। यह दान श्री कृष्णार्पण है। हाथ फैलाकर लज्जा के सहित सकुचाते हुए वामन ने वह प्रतिग्रह ग्रहण की।

उस समय तीनों लोकों के जीव महाराज बलि की जय जय कार करने लगे। सभी इस दुष्कर कार्य की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। सब कहते—"इन दानियों में शिरोमणि मनस्वी महाराज का साहस तो देखा, यह जानते हुए भी कि ये मेरे कुल के शत्रु–देवताओं का पक्ष लेने वाले विष्णु हैं तो भी किसी हिचकिचाहट के प्रसन्नता पूर्वक इन्होंने पृथिवी दान कर दी ऐसा कर्म दूसरा कोई कर ही नहीं सकता।

इस प्रकार सभी उनकी प्रशंसा करने लगे आकाश में

स्थित नन्दनकानन के पुष्पों की उनके ऊपर वृष्टि करने लगे, गन्धर्व गाने लगे, विद्याधर तान छोड़ने लगे, सिद्ध चारण उनकी स्तुति करने लगे। सहस्त्रों दुंदुभियाँ बजने लगी अप्सराओं के नृत्य की झनकार से आकाश मण्डल भर गया। सर्वत्र आनन्द छा गया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार दान देकर बलि ने बड़ा दुष्कर कर्म किया।

छप्पय

भये दैव प्रतिकूल भाग्य ने पलटा खायो।
कहाँ इन्द्र पद अटल करन हित यज्ञ रचायो॥
गुरु ने दीयो शाप पाप पूरव के प्रकटे।
तऊ न विचलित भये दान दैके नहि पलटे।
अपने जानैं जीव सब, कारज सुखकर ही करहिं।
किन्तु दैववश होहि फल, हाथ हवन करतहु जरहिं॥



बढ़े वामन का विश्वरूप

(५७०)

तद् वामनं रूपमवर्धताद्भुतम्,
हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम् ।
भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधय-
स्तिर्यङ्नृदेवा ऋषयो यदासत ॥
(श्री भा० ८ स्क० २० अ० २१ श्लोक)

छप्पय

जल कुश लै संकल्प पढ्यो भू वामन दीन्ही।
नन्हें नन्हें हाथ बढ़ाये वटु लै लीन्हीं ॥
अब पुनि बामन बढ़े लोभ वश पग फैलाये।
तिन के तन महँ भूमि दिशा नभ सबहिं समाये ॥
भुवन चतुर्दश भूत सबै, काल कर्म मनु इन्द्र सुर।
वटु वामन के देह महँ चकित होंहिं निरखहिं असुर ॥

प्रथम बिन्दु होता है, तब सिन्धु बन जाता है, वट के

❀ श्रीशुकदेव जी कहते हैं--राजन् ! दान लेते ही उन वटु वामन भगवान् का रूप त्रिगुणात्मक अनन्त रूप विचित्र भांति से बढ़ने लगा। उस रूप के अन्तर्गत पृथिवी, आकाश, दिशा, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पक्षी, मनुष्य, देवता, ऋषिगण सबके सब आ गये।

नन्हें बीज में विशाल वटवृक्ष अन्तर्भूत है, जहाँ काल, कर्म और गुणों के साथ सम्बन्ध हुआ तहाँ वह नन्हें से बीज से विशाल वृक्ष बन जाता है। जगत् के आदि में परमाणु ही थे। वही सब मिलकर समय पाकर विश्वरूप में परिणित हो गये। शुक्रबिंदु ही इतने बड़े शरीर के रूप में परिणत हो जाता है। अणु से महान् और महान् से अणु यही विश्व-प्रवाह है। वे विश्वनाथ अणु से भी अणु हैं, महान् से भी महान् हैं। लीला के लिये कभी बृहद् अणु से वामन वटु बन जाते हैं, फिर वटु वामन से विश्व के रूप में परिणत हो जाते हैं। जो अणु में महत् और महत् में अणु को देखते हैं, वे ही ज्ञानी हैं, विज्ञानी हैं, उन्होंने ही इस बौने वामन के रहस्य को समझा है, जो बाह्यवृत्ति वाले हैं, वे इस तत्व को नहीं समझ सकते, वे ढोंग गपोड़े सपोड़े जाने क्या क्या कहते हैं। यह सब भी उन्हीं की प्रेरणा से कहते हैं। उनकी सत्ता के बिना न कोई कुछ कह सकता है, न कुछ कर सकता है।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! बड़े से जो लोग जान बूझकर छोटे बनते हैं वे और भी अधिक बड़े बनने के निमित्त ऐसा करते हैं। यदि बड़े बड़ों के ही अनुरूप रहें, तब तो वे बड़े हैं ही, उनका पतन भी हो सकता है। जो स्वभावतः छोटे हैं उनका पतन क्या होगा। जो खाट पर सो रहा हो, उसके नीचे गिरने का डर है, जो भूमि पर ही लेटा है, उसके गिरने की तो सम्भावना ही नहीं। किन्तु जो बहुत बड़े होकर भी छोटे बनते हैं, तो समझ लो इनके छोटे बनने में कोई रहस्य है। ये छोटे बनकर बड़ों के भी कान काटने की घात में हैं, उनकी सादगी में महत्वाकांक्षा अन्तर्भूत है, त्याग में महान् ऐश्वर्य छिपा

है वामन वटु जो छोटे छोटे पैरों को दिखाकर अपनी हीनता और लघुता दिखा रहे थे इसमें उनकी महत्वाकांक्षा गूढ़ थी। ब्रह्म के एक किसी क्षुद्र देश में प्रकृति पड़ी रहती है। उसमें भी सत्व, रज और तम ये दोनों गुण अत्यन्त सूक्ष्म बने हुए, बहुत छोटे से बाजरूप में सोते रहते हैं। जहाँ उनका देश काल और कार्य-कारण सम्बन्ध से नाता जुड़ा कि वे तीनों गुण ही फैलकर चतुर्दश भुवनों का रूप ले लेते हैं, अणु से बृहद् बन जाते हैं। गुणों के साथ काल कर्म का सम्बन्ध होने से वे विश्व ब्रह्माण्ड को ढक लेते हैं, ब्रह्म को आच्छादन कर लेते हैं। फिर गुण प्रवाह के अतिरिक्त ब्रह्म दीखता ही नहीं। वह तो अन्तःकरण की सांकरी कोठरी में छिप जाता है। जो वामन अब तक नन्हें से वटवृक्ष के ब्रीज के समान दिखाई देते थे, वह अब बलि की अनुकूलता और संकल्प के जल सहित पृथिवी को पाकर बढ़ने लगे। वटवृक्ष को तो काल की अपेक्षा है, ये तो काल के भी काल ठहरे। काल भी जिनसे कांपता है, अतः ये भूत के समान, तृष्णा के समान, लोभ के समान, रात्रि के अन्धकार के समान, बढ़कर विश्व को आच्छादित करने लगे। नूतन अभिनय के विचित्र चित्रपटों को जैसे दर्शक आश्चर्य के साथ निहारते हैं वैसे ही वहाँ के उपस्थित जन समूह ने देखा, वामन तो वर्षात की प्रबल बाढ़ से भी बढ़कर अपने शरीर को बढ़ा रहे हैं। उनके समस्त अंगों में ज्ञानियों को समस्त विश्व ब्रह्मांड दिखाई देने लगा। परम यशस्वी महाज्ञानी महाराज बलि को उनके उस रूप में समस्त विश्व के दर्शन हुए। भगवान् अनन्त का वह त्रिगुण मय वामन रूप विश्व में व्याप्त होने लगा। वह इतना बढ़ा कि दशों दिशाओं को उसने ढक लिया। पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु

पक्षी, सरीसृप, मनुष्य, देवता तथ ऋषि-मुनि सब के सब उस रूप में समा गये। उसके समस्त अङ्गों और प्रत्यंगों में यह सम्पूर्ण त्रिगुणमय जगत् दिखाई दे रहा था। राजा बलि को पाँचों भूत, दशों इन्द्रियाँ, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय, अन्त: करण चतुष्टय ये सभी दिखाई देते थे। अकेले उन्होंने ही नहीं देखा। वहाँ जो यज्ञ कर्मों में ऋत्विक् आचार्य और सदस्यगण नियुक्त थे उन्होंने भी भगवान् के विश्वरूप का दर्शन किया। नख से शिख तक भगवान् के सम्पूर्ण अङ्गों में विश्व की प्रधान विभूतियाँ दिखाई दीं।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! भगवान् के किस अङ्ग में कौन सी विभूति दिखाई दी ?"

इस पर भगवान् शुक बोले—"राजन् ! यह विषय तनिक धैर्य से सुनने का है। यह अन्य कथाओं की भाँति नहीं है। इसको आप एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें तो सुनाऊँ ?"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"हाँ ! भगवन् ! मैं अत्यन्त ही सावधानी के साथ श्रवण करूँगा ! आप भगवान् विराट् के नख शिख का वर्णन विस्तार से करें।

हँसकर श्री शुकदेवजी बोले—राजन् ! विस्तार से तो ब्रह्मा जी अपनी समस्त आयु निरन्तर अपने चारों मुखों से वर्णन करते रहें, तो भी सम्पूर्ण वर्णन नहीं कर सकते। इसलिये मैं अत्यन्त संक्षेप में वामन भगवान् के विश्वरूप का वर्णन करूँगा। अच्छा तो अब भगवान के अति कोमल तलुओं से ही आरम्भ करें।

परम भागवत महाराज बलि ने उस विश्वरूप बने वामन भगवान् के कमल की पंखुड़ियों के समान लाल लाल गुदगुदे

कोमल चरण तलों में रसातल को देखा। चरणों के ऊपरी भाग में जो कछुए की पीठ के समान उतार चढ़ाव था, उसमें भूदेवी के दर्शन किये। जंघाओं में पृथ्वी के ऊपर के बड़े बड़े पर्वतों का अवलोकन किया। जानुओं में समस्त जाति के पक्षियों को देखा और उरुओं में ४९ मरुतों के दर्शन किये। उन विश्वरूप विश्वेश्वर के बहुमूल्य वस्त्रों में घूँघट मारे सन्ध्या देवी को देखा तथा गुह्य देश में समस्त प्रजापतियों को। भगवान् के जघनों की ओर जों उन्होंने निहारा तो हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, प्रह्लाद विरोचन तथा समस्त असुरों को और अपने को भी उन्हीं में देखा। विश्वरूप भगवान् की जल के आवर्त के समान गहरी नाभि में अनन्त आकाश को देखा। उन विश्वेश्वर की कुक्षियों में सातों समुद्र हिलोरें ले रहे हैं। उर:स्थल में समस्त नक्षत्रगण चमचमा रहे हैं। हृदयस्थल की शोभा को साक्षात् धर्मदेव बढ़ा रहे हैं। दोनों स्थलों में ऋत और सत्य प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं।

मन में चन्द्रमा प्रकाशित हो रहे हैं। वक्षस्थल में बिजली के सदृश चमकती हुई चंचला चपला लक्ष्मी जी अपने यौवन के मद में इठला रही हैं, अनुराग में भीगी हुई। भगवान् के हृदय का मानों हार ही बनी हुई हैं। कंठ में सामवेद की श्रुतियाँ तथा मूर्तिमान् शब्द शोभित हो रहे हैं। भुजाओं में इन्द्र, वरुण, कुवेर, यम तथा अन्य समस्त देवता सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं। कानों में छिद्राकाश में समस्त दिशायें मूर्तिमती बन कर बैठी हैं। मस्तक में ऊपर के समस्त स्वर्ग विराजमान हैं। काले काले घुँघराले कुंचित केशों में यावन्मात्र मेघ हैं वे गड़गड़ान तड़तड़ान कर रहे हैं। वायुदेव नासिका की शोभा बढ़ा रहे हैं। नेत्रों में सूर्य अपनी आभा चमका रहे

है, मुख में अग्नि अपनी लपटों की छाया दिखा रहे हैं। वाणी में वेद सन्निहित हैं। रसना में वरुण विद्यमान हैं। एक भ्रुकुटि में विधि और दूसरी में निषेध चुपचाप बैठी हैं। पलकों के निमेष उन्मेष में दिन और रात्रि अपना आसन जमाये हैं। ललाट में क्रोध अपनी भीषण भ्रुकुटियों से निहार रहा है। अधर में लोभ लिपटा है स्पर्शेन्द्रिय में अपने पुष्पों के रस को सुंघाने पुष्पायुत काम कमनीय क्रीड़ा कर रहा है।

भगवान् के वीर्य में जल का निवास है। जल ही जीवन है, जल ही, भुवन है, जल ही बन है, पृष्ठभाग में अधर्म अपनी कराल दृष्टि से देख रहा है। यह भी भगवान् के पृष्ठ भाग से उत्पन्न धर्म के समान ही पुत्र है। अन्तर इतना ही है कि। धर्म की उत्पत्ति हृदय से है और इसका वास उनके पृष्ठ प्रदेश में है। भगवान् का जो पैरों का उठाना है उसमें समस्त यज्ञ योग विद्यमान हैं। मृत्यु देवी उनकी छाया में घूँघट मारे छिपी हुई हैं। माया देवी भगवान् की हँसी में बैठी हँस रही हैं। श्री हरि के रोम कूपों में समस्त औषधियाँ सन्निहित हैं। नाड़ियों में असंख्यों नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। भगवान के हाथ पैर के नखों में पर्वतों की शिलायें विद्यमान हैं। बुद्धि में जगत की उत्पत्ति करने वाले ब्रह्माजी बैठे हुए हैं, उनके समीप देवता तथा ऋषिगण विराजमान हैं। अधिक कहाँ तक कहें वटु वामन के सम्पूर्ण अङ्गों में विश्व की समस्त वस्तुएँ विद्यमान हैं। जगत में जितने स्थावर जंगम जन्तु हैं, वे सब महाराज बलि को उन विराट् बने प्रभु के श्री अंग में दिखाई दिये।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! बढ़े हुए वटु वामन के इस विश्वरूप को देखकर समस्त दैत्यगण परम विस्मित

हुए। वे भयभीत होकर भगवान् का विराट् रूप को देखने लगे वे डर भी रहे थे और आश्चर्य चकित होकर उन्हें संभ्रम के साथ देख भी रहे थे। अब तो भगवान् अपना ब्रह्मचारी का वेष छोड़कर यथार्थ रूप में आगये।

छप्पय

शुक्र वचन प्रत्यक्ष भये वटु वामन बाढ़े।
अद्भूत अनुपम रूप असुर सब निरखैं ठाढ़े॥
दंड कमंडलु त्यागि अस्त्र आयुध निज धारे।
लखि विराट् कूँ कँपैं असुर सब भय के मारे॥
चक्र सुदर्शन, धनुष, सर, गदा, खड्ग धारन किये।
ढाल, शङ्ख, क्रीड़ा कमल, आठों हाथनि महँ लिये॥



भागवती कथा

पर

"हिन्दी के सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध विद्वान पं० द्व
चतुर्वेदी "साहित्य भूषण"
एम० ए० आर० एस०

की

शुभ सम्मति

वर्तमान नास्तिकता पूर्ण एवं प्राचीन आर्य सं
काल में "भागवती कथा" कहीं-कहीं और कभी-क
मिलती है। अतएव इस परमोपयोगी ग्रन्थरत्न क
एवं सुलभ संस्करण प्रकाशित करने की आवश्यक
चिरकाल से भक्तजन कर रहे थे। हमें यह देखकर
कि इस महत्वपूर्ण कार्य का श्रेय हमारे चिरपरिचि
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी को प्राप्त हुआ है। आपने
नाम की एक पुस्तकमाला आरम्भ की है। इस
अङ्क होंगे। जिनमें से एक से बाईस संख्या तक
सामने हैं। ब्रह्मचारीजी एक परोपकारी एवम् भगव
हैं यह कार्य उन्हीं के योग्य था भी। इस पुस्तक म
शैली चित्ताकर्षक सुबोध सरल है। अतएव इसक
पढ़ने लिखने की साधारण योग्यता रखने वाला
भलीभाँति पढ़ समझ सकता है। अतः प्रत्येक ब्र
गृहस्थ को इस माला को मँगाकर इससे लाभ उ
ब्रह्मचारीजी की यह कृति उनका चिरकाल व्यापी स

दारागञ्ज प्रयाग
माघकृ० ५ सं० २००५ वि० { चतुर्वेदी द्वारका प्र

